हिन्दी
त्रैमासिक

रामकृष्ण
मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

के अकाल-सेवा-केन्द्र घोड़ारी घाट में अकाल-पीड़ि
अपंगों और अनाश्रितों की दो टोलियाँ
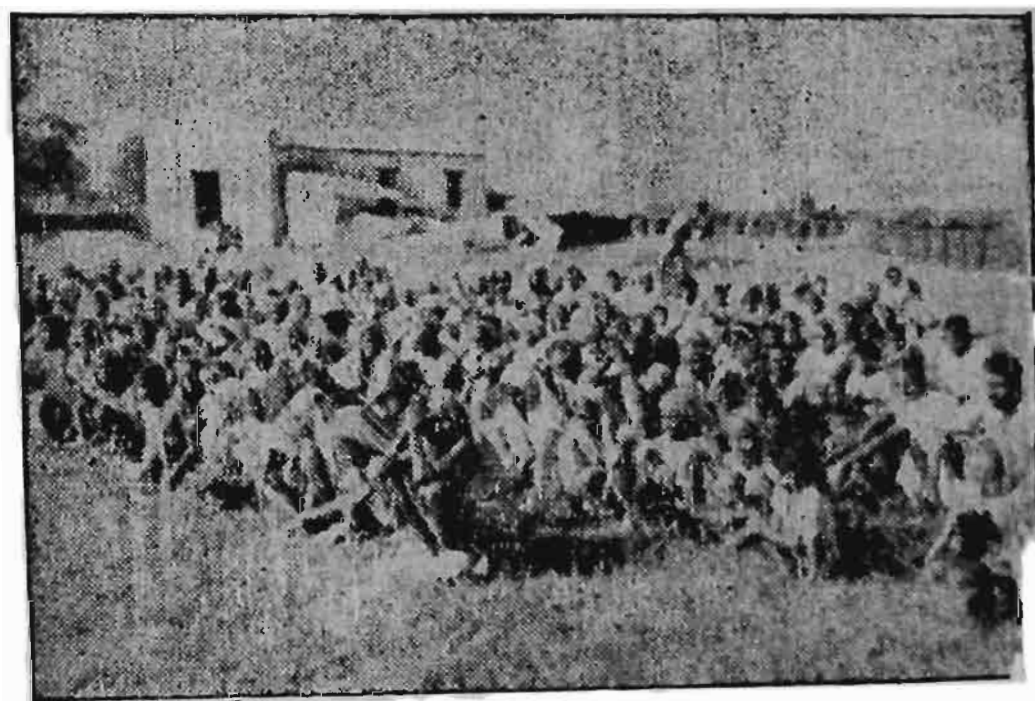
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९७५ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

फोन : १०४६

अनुक्रमणिका

–।०।–

●

कवर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द
काश्मीर में, सन् १८९८ ई.

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(२८ वीं तालिका)

९१४. श्रीमती सौ० प्रभावती सेलट, वाराणसी ।
९१५. श्री एस. के. बैनर्जी, कुनकुरी (रायगढ़) ।
९१६. प्राचार्य, महारानी लक्ष्मीबाई उ० मा० कन्याशाला, राजनांदगाँव ।
९१७. श्री कृष्णा मुदलियार, राजनांदगांव ।
९१८. श्री जी. आर. वैताम, कोरबा (बिलासपुर) ।
९१९. कु० रीता मजूमदार, शिक्षिका, जशपुरनगर ।
९२०. श्रीमती सुदीप्ति भट्टाचार्य, रायपुर ।
९२१. श्री अनूपचन्द जैन एंड कंपनी, राजनांदगांव ।
९२२. श्री तखतराम वर्मा, करमदा (रायपुर) ।
९२३. श्री महेश मुद्गल, लश्कर, ग्वालियर ।

•

पाठकों से निवेदन

भगवान् की असीम अनुकम्पा से 'विवेक-ज्योति' अपने गौरवशाली तेरहवें वर्ष में पदार्पण कर रही है। इस अवसर पर हम अपने समस्त ग्राहकों को उनके सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद देते हुए उनके प्रति नूतन वर्ष हेतु शुभकामनाएं प्रदान करते हैं।

आपको विदित ही है कि गत दो वर्षों में कागज के मूल्य तथा छपाई आदि के व्यय में दुगनी से भी अधिक वृद्धि हुई है। अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने अपने दाम काफी बढ़ा दिये हैं, जबकि हमने सर्वसामान्य पाठकों की सुविधा का ख्याल रख 'विवेक-ज्योति' का शुल्क केवल ५) रखा है। एतदर्थ हमें पर्याप्त आर्थिक कठिनाई

का सामना भी करना पड़ रहा है। यदि हमारे सहृदय पाठक कुछ नये ग्राहक बनाकर भेज सकें, तो हमारी कठिनाई कुछ मात्रा में दूर हो सकती है। अतएव पत्रिका के नववर्ष-पदार्पण पर हम अपने प्रत्येक पाठक-पाठिका से साग्रह निवेदन करते हैं कि वे 'विवेक-ज्योति' के आजीवन सदस्य या कम से कम दो वार्षिक सदस्य बनाकर, सत्साहित्य के प्रचार में हमें सहयोग प्रदान करें।

धन्यवाद !

—व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति'

*

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्यौरा

१. प्रकाशन का स्थान — रायपुर

२. प्रकाशन की नियतकालिता — त्रैमासिक

३-५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक— स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी दयानन्द, स्वामी अभयानन्द स्वामी चिदात्मानन्द स्वामी कैलासानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी पवित्रानन्द स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी सम्बुद्धानन्द स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी भास्वरानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी आदिदेवानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द स्वामी वन्दनानन्द

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १३] जनवरी - फरवरी - मार्च [अंक १
★ १९७५ ★

अहं-अहि-नाश का फल

ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलवताहंकार - घोराहिना
संवेष्टयात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः।
विज्ञानाख्यमहासिना श्रुतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं
निर्मूल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः॥

--ब्रह्मानन्दरूपी परमधन को अहंकाररूप महाभयंकर सर्प ने अपने सत्त्व, रज और तमरूप तीन प्रचण्ड मस्तकों से लपेटकर छिपा रखा है। जब विवेकी पुरुष शास्त्रोक्त अनुभव-ज्ञानरूप महान् खड्ग से इन तीनों मस्तकों को काटकर इस सर्प का नाश कर देता है, तभी वह इस परम आनन्ददायिनी सम्पत्ति को भोग सकता है।

--विवेकचूड़ामणि, ३०२

सरल कुंजी

किसी गाँव में एक आदमी रहता था। बचपन में उसके माँ-बाप दिवंगत हो गये थे। उसके न कोई भाई था, न बहिन। सगे-सम्बन्धियों ने उसे दुत्कार दिया था। उसने एक भेड़ा पाल रखा था। वही उसका एकमात्र साथी था। जहाँ भी वह जाता, इस भेड़े को साथ ले जाता।

एक दिन जब वह काम से लौट रहा था, तो रास्ते में उसे एक साधु दिखायी पड़े। वे एक चबूतरे पर बैठे थे और कुछ लोग नीचे बैठकर श्रद्धापूर्वक उनका उपदेश सुन रहे थे। वह भी आकर उन लोगों के बीच बैठ गया और साधु की बातें ध्यानपूर्वक सुनने लगा। साधु उपदेश देते हुए कह रहे थे, "देखो, जीवन में एकमात्र भगवान् ही सार है। सगे-सम्बन्धी तो स्वार्थ के हैं। इस संसार में सच्चा प्रेम कहीं नहीं मिलता। एकमात्र भगवान् ही हमारे सच्चे प्रेमी हैं। इसलिए अपने समूचे हृदय से केवल उन्हीं से प्यार करो।"

उसे ऐसा लगा कि ये सारी बातें मानो उसी के लिए कही जा रही हैं। साधु जो कुछ कह रहे थे, वह शत-प्रतिशत उसके साथ घटता था। उसने दुनिया देख ली थी। कोई उसका अपना न था। सब स्वार्थ के नाते-रिश्ते थे। वह साधु की बातों से बड़ा प्रभावित हुआ। पर उसके मन में एक शंका जगी। उसने साधु से पूछा, "महाराज! आपने भगवान् से ही प्यार करने को कहा, पर मैंने तो उन्हें कभी देखा नहीं, न ही मैं उनके बारे में कुछ जानता हूँ। तब उनको प्यार करना कैसे सम्भव है?" इस पर साधु ने उससे पूछा, "अच्छा,

यह वताओ, तुम संसार में सबसे अधिक किसे प्यार करते हो?" उसने अपने भेड़े की ओर संकेत किया और कहा, "संसार में इसे छोड़कर मेरा अपना कहने को और कोई नहीं है। वस, इसी को मैं पूरे हृदय से प्यार करता हूँ।" साधु बोले, "तव तुम इसी भेड़े में अपना सारा मन-प्राण लगा दो और हमेशा याद रखो कि भगवान् इसके भीतर बसे हैं।"

साधु उसे ऐसा उपदेश देकर चले गये। वह भी अपने भेड़े को ले अपनी झोपड़ी में लौट आया। साधु की वात उसके हृदय में घर कर गयी और उसे विश्वास हो गया कि उसके भेड़े के भीतर भगवान् का वास है। अब वह अपने भेड़े को और अधिक प्यार करने लगा। लम्बे अरसे बाद साधु उसी रास्ते से वापस लौटे। उसके गाँव में आकर उन्होंने उसकी खोज की। वह भी बरसों बाद अपने उपदेशक और मार्ग-दर्शक को सम्मुख पा आनन्द से विह्वल हो उठा। उसने साधु के चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया। साधु ने कुशल-क्षेम पूछकर उससे कहा, "कहो, तुम्हारी साधना कैसी चली है?" वह बोला, "महाराज! आपकी कृपा से मैं अच्छा हूँ। आपने दया करके मुझे जो उपदेश दिया, उससे मुझे बड़ा लाभ हुआ। मैं कई वार अपने भेड़े के भीतर एक सुन्दर आकृति देखता हू, जिसके चार हाथ दिखायी देते हैं और उससे मुझे अपार आनन्द का अनुभव होता है।"

बस, ऐसा ही सरल विश्वास चाहिए। शिशुवत् विश्वास और निश्छलता से भगवान् बड़ी सरलता से प्राप्त होते हैं। भगवद्दर्शन की यही सरल कुंजी है।

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

वाशिंगटन
२७ अक्तूबर, १८९४

प्रिय आलासिंगा,

तुम्हें मेरा शुभाशीर्वाद। इस बीच तुम्हें मेरा पत्र मिला होगा। कभी कभी मैं तुम लोगों को चिट्ठी द्वारा डाँटता हूँ, इसके लिए कुछ बुरा न मानना। तुम सभी को मैं किस हद तक प्यार करता हूँ, यह तुम अच्छी तरह जानते हो।

तुम मेरे कार्य-कलाप के बारे में पूर्ण विवरण जानना चाहते हो कि मैं कहाँ कहाँ गया था, क्या कर रहा हूँ; साथ ही मेरे भाषण के सारांश भी जानना चाहते हो। साधारण तौर पर यह समझ लो कि मैं यहाँ वही काम कर रहा हूँ, जो भारतवर्ष में करता था। सदा ईश्वर पर भरोसा रखना और भविष्य के लिए कोई संकल्प न करना।... इसके सिवा तुम्हें याद रखना चाहिए कि मुझे इस देश में निरन्तर काम करना पड़ता है और अपने विचारों को पुस्तकाकार लिपिबद्ध करने का मुझे अवकाश नहीं है—यहाँ तक कि इस लगातार परिश्रम ने मेरे स्नायुओं को कमजोर बना दिया है, और मैं इसका अनुभव भी कर रहा हूँ। तुमने, जी० जी० ने और मद्रास-वासी मेरे सभी मित्रों ने मेरे लिए जो अत्यन्त निःस्वार्थ और वीरोचित कार्य किया है, उसके लिए अपनी

कृतज्ञता मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ? लेकिन वे सब कार्य मुझे आसमान पर चढ़ा देने के लिए नहीं थे, वरन् तुम लोगों को अपनी कार्यक्षमता के प्रति सजग करने के लिए थे। संघ बनाने की शक्ति मुझमें नहीं है--मेरी प्रकृति अध्ययन और ध्यान की तरफ ही झुकती है। मैं सोचता हूँ कि मैं बहुत कुछ कर चुका, अब मैं विश्राम करना चाहता हूँ और उनको थोड़ी-बहुत शिक्षा देना चाहता हूं, जिन्हें मेरे गुरुदेव ने मुझे सौंपा है। अब तो तुम जान हो गये कि तुम क्या कर सकते हो, क्योंकि, तुम मद्रासवासी युवको, तुम्हीं ने वास्तव में सब कुछ किया है, मैं तो केवल चुपचाप खड़ा रहा। मैं एक त्यागी संन्यासी हूँ और मैं केवल एक ही वस्तु चाहता हूँ। मैं उस भगवान् या धर्म पर विश्वास नहीं करता, जो न विधवाओं के आँसू पोंछ सकता है और न अनाथों के मुँह में एक टुकड़ा रोटी ही पहुंचा सकता है। किसी धर्म के सिद्धान्त कितने ही उदात्त एवं उसका दर्शन कितना ही सुगठित क्यों न हो, जब तक वह कुछ ग्रन्थों और मतों तक ही परिमित है, मैं उसे नहीं मानता। हमारी आँखें सामने हैं, पीछे नहीं। सामने बढ़ते रहो और जिसे तुम अपना धर्म कहकर गौरव का अनुभव करते हो, उसे कार्यरूप में परिणत करो। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे!

मेरी ओर मत देखो, अपनी ओर देखो। मुझे इस बात की खुशी है कि मैं थोड़ासा उत्साह संचार करने का साधन बन सका। इससे लाभ उठाओ, इसी के सहारे

बढ़ चलो, सब कुछ ठीक हो जायगा। प्रेम कभी निष्फल नहीं होता, मेरे बच्चे! कल हो या परसों या युगों के बाद, पर सत्य की जय अवश्य होगी। प्रेम ही मैदान जीतेगा। क्या तुम अपने भाई--मनुष्यजाति--को प्यार करते हो? ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने चले हो--ये सब गरीब, दुःखी, दुर्बल मनुष्य क्या ईश्वर नहीं हैं? इन्हीं को पूजा पहले क्यों नहीं करते? गंगा-तट पर कुआँ खोदने क्यों जाते हो? प्रेम की असाध्य-साधिनी शक्ति पर विश्वास करो। इस झूठे जगमगाहटवाले नाम-यश की परवाह कौन करता है? समाचार-पत्रों में क्या छपता है, क्या नहीं, इसकी मैं कभी खबर ही नहीं लेता। क्या तुम्हारे पास प्रेम है? तव तो तुम सर्वशक्तिमान हो। क्या तुम सम्पूर्णतः निःस्वार्थ हो? यदि हाँ, तो फिर तुम्हें कौन रोक सकता है? चरित्र की ही सर्वत्र विजय होती है। भगवान् ही समुद्र के तल में भी अपनी सन्तानों को रक्षा करते हैं। तुम्हारे देश के लिए वीरों की आवश्यकता है--वीर बनो। ईश्वर तुम्हारा मंगल करे।

सभी लोग मुझे भारत लौटने को कहते हैं। वे सोचते हैं कि मेरे लौटने पर अधिक काम हो सकेगा। यह उनकी भूल है, मेरे मित्र। इस समय वहाँ जो उत्साह पैदा हुआ है, वह किंचित् देश-प्रेम भर ही है---उसका कोई खास मूल्य नहीं। यदि वह सच्चा उत्साह है, तो बहुत शीघ्र देखोगे कि सैकड़ों वीर सामने आकर उस कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। अतः जान लो कि वास्तव में तुम्हीं ने सब कुछ

किया है, और आगे बढ़ते चलो। मेरे भरोसे मत रहो। ...

विस्तृत कार्यक्षेत्र सामने पड़ा है। धार्मिक मत-मतान्तरों से मुझे क्या काम ? मैं तो ईश्वर का दास हूँ, और सब प्रकार के उच्च विचारों के विस्तार के लिए इस देश से अच्छा क्षेत्र मुझे कहाँ मिलेगा ? यहाँ तो यदि एक आदमी मेरे विरुद्ध हो, तो सौ आदमी मेरी सहायता करने को तैयार हैं; सबसे अच्छी जगह यही है, जहाँ मनुष्य मनुष्य से सहानुभूति रखते हैं और जहाँ नारियाँ देवीस्वरूपा हैं। प्रशंसा मिलने पर तो मूर्ख भी खड़ा हो सकता है और कायर भी साहसी का सा डोल दिखा सकता है--पर तभी, जब सब कामों का परिणाम शुभ होना निश्चित हो; परन्तु सच्चा वीर चुपचाप काम करता जाता है। एक बुद्ध के प्रकट होने के पूर्व कितने बुद्ध चुपचाप काम कर गये ! मेरे बच्चे, मुझे ईश्वर पर विश्वास है, साथ ही मनुष्य पर भी। दुःखी लोगों की सहायता करने में मैं विश्वास करता हूँ और दूसरों को बचाने के लिए मैं नरक तक जाने को भी तैयार हूँ। अगर पाश्चात्य देशवालों की बात कहो, तो उन्होंने मुझे भोजन और आश्रय दिया, मुझसे मित्र का सा व्यवहार किया और मेरी रक्षा की--यहाँ तक कि अत्यन्त कट्टर ईसाई लोगों ने भी। परन्तु हमारी जाति उस समय क्या करती है, जब इनका कोई पादरी भारत में जाता है ? तुम उसको छूते तक नहीं--वे तो म्लेच्छ हैं ! मेरे बेटे ! कोई मनुष्य, कोई जाति दूसरों से घृणा करते हुए जी नहीं सकती। भारत के भाग्य का निपटारा

उसी दिन हो चुका, जब उसने इस 'म्लेच्छ' शब्द का आविष्कार किया और दूसरों से अपना नाता तोड़ लिया। खबरदार, जो तुमने इस विचार की पुष्टि की! वेदान्त की बातें बघारना तो खूब सरल है; पर इसके छोटे से छोटे सिद्धान्तों को काम में लाना कितना कठिन है!

तुम्हारा चिरकल्याणाकांक्षी,
विवेकानन्द

पुनश्च:-- इन दो चीजों से बचे रहना--सत्ताप्रियता और ईर्ष्या। सदा आत्म-विश्वास का अभ्यास करना। –वि०

इस दुष्ट अहंकार से कैसे निपटें

स्वामी निखिलानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी निखिलानन्द रामकृष्ण-विवेकानन्द-सेंटर, न्यूयार्क के अध्यक्ष थे। उनका मूल लेख अंग्रेजी में 'वेदान्त केसरी' मासिक के सितम्बर १९६२ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से वह साभार गृहीत और अनूदित हुआ है। ––सं०)

इस दुष्ट अहंकार के साथ हमें क्या करना चाहिए ? अहंकार या मैं-बोध हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन का आधार है। हमारे विचार, शब्द और हमारे क्रिया-कलाप अहंकार द्वारा सीमाबद्ध हैं। हम स्वयं से कहते हैं––'मैं पुरुष हूँ', 'मैं स्त्री हूँ', 'मैं पति हूँ', 'मैं पत्नी हूँ', 'मैं हिन्दू हूँ', 'मैं अमरीकी हूँ'। बिना इस मैं-बोध के कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता और न ही कार्य कर सकता है। परन्तु साथ ही सभी प्रमुख धर्म कहते हैं कि अहंकार आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। सभी प्रमुख धर्म इस अहंकार को दवाने या नियंत्रित करने की साधना वतलाते हैं। द्वैतवादी धर्मों को लें, जहाँ सगुण-सविशेष ईश्वर में विश्वास किया जाता है। इन धर्मों के माननेवाले ईश्वर-प्रेम के द्वारा अपने अहंकार का शोधन कर अपने को स्वार्थपरता, ईर्ष्या, लोभ, घृणा और क्रोध से मुक्त करते हैं। अद्वैतवादियों के अनुसार, मनुष्य परमात्मा से अभिन्न है। अद्वैतवाद के अनुयायी अपने अहंकार को इस परमात्मा के साथ एकात्मता के ज्ञान द्वारा परिष्कृत करते हैं। उनका मत है कि जिसे हम अहंकार कहते हैं, वह

और कुछ नहीं उस परमात्मा का प्रतिविम्ब है, इसलिए हमें अपने अहं को उस परमात्मा से एकाकार कर लेना चाहिए। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'अद्वैतज्ञान को आँचल में बाँधकर संसार के कर्म करो।' इसका तात्पर्य यह है कि हमें इस परमात्मा से अपनी एकरूपता कभी नहीं भूलनी चाहिए।

बौद्धमतानुसार, अहंकार की कोई नित्यता नहीं है। यह 'मैं' जो कहता है कि 'मैं पिता हूँ', 'मैं माता हूँ', 'मैं इस मकान का स्वामी हूँ', संवेदनाओं की एक गठरी मात्र है। जिस क्षण सुख की संवेदना उठती है, मैं प्रसन्न हो जाता हूँ, और दूसरे ही क्षण दुःख के विचार आने पर मैं दुःखी हो जाता हूँ। अतएव जिसे हम अहंकार कहते हैं, वह संवेदनाओं की गठरी के सिवाय और कुछ नहीं। बौद्धमत कहता है, अहंकार के इस सतत परिवर्तनशील स्वभाव को याद रखो और गहरी समाधि में इससे छुटकारा पा लो। तब यह संसार भी लुप्त हो जायगा। यही निर्वाण या बुद्धत्व की अवस्था है।

विश्व के सभी महान् धर्माचार्य हमें यह सिखाते हैं कि यह अहंकार ही पाप और दुःख को उपजानेवाला है। स्वार्थपरता, आसक्ति, द्वेष, कलह और झगड़े का कारण अहंकार ही है। यह अहंकार मनुष्य को अपने साथ के मनुष्यों से तथा ईश्वर से विमुख कर देता है। यह अहंकार निम्न अहं को महत् अहं से विमुख कर देता है। इस प्रकार अहंकार बन्धन उत्पन्न करता है। यह अहंकार ईसाइयों का वृद्ध आदम है; इसे दबाना होगा। वेदान्त

के अनुसार यह अहंकार एक घड़ियाल के सदृश है, जो मनुष्य को गले से पकड़कर इस संसार-सागर में डुबो देता है। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, 'जब हम इस अहंकार से छुटकारा पा लेंगे, तो सभी दुःखों का अन्त हो जायगा।' श्रीमाँ कहती थीं, 'ईश्वर-साक्षात्कार या मोक्ष की दो शर्तें हैं—एक है अहंकारशून्यता और दूसरी है ईश्वर-कृपा।' इस अहंकार को अध्यवसायपूर्ण अभ्यास और वैराग्य द्वारा दबा सकते हैं तथा आत्म-समर्पण से ईश्वर की कृपा प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य के इस प्रकार अहंकार से मुक्त होने को हम आत्मा का ऊपर उठना कह सकते हैं, तथा ईश्वर-कृपा को ईश्वर का नीचे उतर आना कहा जा सकता है। जब जीव का ईश्वर से मिलन होता है, तब जीव मुक्त हो जाता है।

अहंकार कैसे उपजता है ? अहंकार की उत्पत्ति एक गहरा रहस्य है, जिसे सुलझाना इस सीमित मन द्वारा कठिन होगा। हम ईसाई धर्म-ग्रन्थों में पढ़ते हैं कि आदि-मानव अहंकारशून्य था। इस प्रकार वह ईश्वर का अनन्य साथी था। तब शैतान अर्थात् अज्ञान उसे प्रलोभित कर ईडन अर्थात् सम्मोह के बगीचे में ले गया, जहाँ उसने निषिद्ध वृक्ष के फल को चखा। इसका तात्पर्य यह है कि वह सांसारिक ज्ञान के सम्पर्क में आ गया। इसने उसे ईश्वर से विलग कर अहंकारी बना दिया। मनुष्य ने ईश्वर को भुला दिया। इसलिए मनुष्य ईश्वर का प्रायश्चित्तकर्ता पापी-पुत्र कहलाता है, जिसे अपने पिता

के घर से बहिष्कृत कर दिया गया है।

वेदान्त के अनुसार, हमारी आत्मा पवित्र है। मनुष्य ईश्वर की ज्योति है। किसी प्रकार--हम नहीं जानते कि कि किस प्रकार--मनुष्य में यह गहन अज्ञान उठता है, जिसे ईसाई धर्म शैतान कहकर पुकारता है, जो ईश्वर-द्रोही है। वेदान्त इसी को माया कहता है। परन्तु वेदान्त के अनुसार यह शैतान या अज्ञान मनुष्य के भीतर ही है, और जब माया का यह आवरण ईश्वर और जीव के बीच आता है, तब आत्मा का वास्तविक स्वरूप धुँधला पड़ जाता है तथा मनुष्य का ईश्वर के साथ जो अभिन्न सम्बन्ध है, वह छिप जाता है और अनेकता उत्पन्न हो जाती है। तभी अलग आत्मा या अहंकार दिखलायी पड़ता है और तब जीव अपने को दूसरे जीवों से भिन्न समझने लगता है। इस व्यष्टि अहंकार को, जो अपने को दूसरे जीवों और परमात्मा से पृथक् समझता है, दुष्ट या कष्टप्रद अहंकार कहते हैं। हम देखेंगे कि उस पर कैसे अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

प्रत्येक में अवस्थित इस अहंकार की कार्यप्रणाली को हम समझने का प्रयत्न करें। यह अहंकार स्वयं को शरीर, मन, इन्द्रियों के साथ एकरूप कर लेता है और इस प्रकार इस गोचर संसार का एक अंग बन जाता है। इस एक-रूपता का क्या परिणाम होता है ? जब यह अहंकार अथवा 'मैं' इस शरीर के साथ एकरूप होता है, तो क्या होता है ? तब वह कहता है, 'मैं निर्धन हूँ', 'मैं कुरूप हूँ', 'मैं

सुन्दर हूँ', और इस प्रकार मनुष्य भौतिक सुख या पीड़ा का अनुभव करता है। जब अहंकार इन्द्रियों के साथ एकरूप होता है, तब वह कहता है, 'मैं नेत्रहीन हूँ' या 'मेरी दृष्टि उत्तम है'; अथवा, 'मैं बधिर हूँ' या 'मैं अच्छी तरह सुन सकता हूँ'; अथवा, 'मैं लँगड़ा हूँ' या 'मैं अच्छी तरह चल सकता हूँ'। इस प्रकार अहंकार इन्द्रियों के साथ एकाकार हो सुखद या दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त करता है। और जब वह मन के साथ एकरूप होता है, तब क्या होता है? तब वह सोचता है, 'मैं आनन्दपूर्वक हूँ' या 'मैं कष्ट में हूँ'। यही मन का स्वभाव है। वह सोचता है, 'मैं उदास हूँ' या 'मैं प्रफुल्लित हूँ'; 'मैं पापी हूँ' या 'मैं पुण्यात्मा हूँ'।

हिन्दू धर्म के अनुसार, पाप और पुण्य दोनों ही हमारे मन के अन्दर हैं। यदि कोई पापी मनुष्य अर्थात् बुरे विचारोंवाला व्यक्ति आध्यात्मिक साधनाओं का पालन कर स्वयं को पापमय विचारों से मुक्त कर लेता है, तो वह पुण्यात्मा बन जाता है।

अहंकार की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं—स्थूल, सूक्ष्म और धार्मिक। स्थूल या घटिया अहंकार कहता है, 'मैं धनी हूँ। मैं दूसरों की अपेक्षा अधिक धनी हूँ।' अथवा, 'मैं शक्तिशाली हूँ। मैं बलवान् हूँ। मैं समाज के लिए नियम गढ़ूँगा।' जिसमें अहंकार की सूक्ष्म अभिव्यक्ति होती है, वह व्यक्ति कहता है, 'मैं नैतिक हूँ। मैं विद्वान् हूँ। मैं ईमानदार हूँ। मैं कुलीन हूँ।' इसके बाद फिर

धार्मिक अहंकार है। इस प्रकार के अहंकार से युक्त व्यक्ति अपने पुण्यों की गिनती करता है तथा 'मैं तुमसे अधिक पुण्यात्मा हूँ' ऐसा दृष्टिकोण रखता है। वह रातभर में महात्मा बन जाना चाहता है और यदि अपने इस प्रकार के प्रयत्न में असफल हो जाय, तो हताशा का अनुभव करता है।

यह अहंकार सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। वृक्षों और पौधों में यह अहंकार सहज प्रवृत्ति के रूप में अवस्थित है। इनमें भी जीवित रहने की चाह होती है, पर यह जिजीविषा सहज प्रवृत्ति का फल है। पशुओं में भी अहंकार होता है, परन्तु उनमें वह आंशिक चेतना के रूप में विद्यमान रहता है। एक पशु भी खाता है, सोता है, प्रजनन करता है और अपनी भौतिक आवश्यकताओं को तुष्ट करता है। पशु भी अपने रहने के लिए स्थान बनाते हैं और अपने बच्चों का पोषण करते हैं। मनुष्य में भी यह अहंकार कार्य करता है, परन्तु उसमें वह पूर्ण चेतना लिये होता है। यह अहंकार पौधों में सहजप्रवृत्त, पशुओं में अर्धचेतन और मनुष्य में पूर्णचेतन होता है। मनुष्य विचार करता है, प्रेम करता है, घृणा करता है, अपने वर्तमान जीवन की सीमाओं को जानता है, और भविष्य की सम्भावनाओं पर भी सोचता है। फिर यह अहंकार, किसी विशेष रूप में, असाधारण मनुष्यों या योगियों में भी विद्यमान रहता है। एक योगी गहरी समाधि की अवस्था में इस अहंकार को पूरी तरह से वश में कर ले सकता है; और जब वह समाधि से लौटता है,

तब अहंकार फिर से कार्य करने लगता है, परन्तु अब वह पहले का स्थूल अहंकार नहीं रहा। अब वह ईश्वर के साक्षात् ज्ञान से अथवा ईश्वर के प्रेम से परिष्कृत हो जाता है। जब ईश्वर के ज्ञान से मनुष्य का अहंकार शुद्ध होता है, तब भले ही वह देखता है, सुनता है, सोता है, खाता है, पर उसे यह बोध बना रहता है कि वह यह सब कुछ नहीं कर रहा है। वह जानता है कि यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, यह मन, यह अनात्मा ही ये सारी क्रियाएँ कर रहा है और वह स्वयं नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मा है। और जब अहंकार ईश्वर-प्रेम के द्वारा पवित्र होता है, तब वह सोचता है कि वह ईश्वर के हाथों एक यंत्रमात्र है। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे, 'मैं जगन्माता की एक सन्तान हूँ, वे यंत्री हैं और मैं यंत्र।'

अहंकार से वासना का जन्म होता है और वासना ही जीव के ऊँची या नीची योनि में फिर से जन्म लेने का कारण होती है। हमारा पुनर्जन्म कर्म-सिद्धान्त द्वारा नियमित होता है, जिसे इमर्सन ने क्षतिपूर्ति का नियम कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि अच्छे से शुभ और बुरे से अशुभ फल प्राप्त होता है। अतएव अच्छी और बुरी कामनाओं से युक्त मनुष्य को अनन्त जन्म और मृत्यु के चक्कर में से गुजरना होता है। उसे बारम्बार दुःख, वृद्धावस्था, पीड़ा और मृत्यु सहनी पड़ती है। अन्ततोगत्वा, वह इस अहंकार को समस्त वासनाओं के साथ दूर कर देना चाहता है, इसलिए वह एक गुरु की खोज करता है और उनके संरक्षण में तब तक साधना करता है, जब तक कि

अन्त में यह अहंकार दब नहीं जाता अथवा वश में नहीं आ जाता। और तब वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

सभी सन्त और धर्माचार्य मनुष्य के अन्तःस्थ दिव्यता की बात कहते हैं। आप ईसाई धर्मग्रन्थों में पढ़ते हैं, 'स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर ही है।' भगवती गीता कहती है, 'परमात्मा सबके हृदय में विराजमान हैं।' श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं, 'जीव शिव ही है।' वे यह भी कहते हैं, 'ईश्वर या मुक्ति का खजाना मनुष्य के हृदय में ही स्थित है।' खजाने का अर्थ है आध्यात्मिक पूर्णता, जो मनुष्य के भीतर निहित है। परन्तु इस खजाने की रक्षा तीन कोष-रक्षक सर्पों द्वारा की जा रही है; एक है सत्त्वगुण का सर्प, दूसरा है रजोगुण का और तीसरा, तमोगुण का। सत्त्वगुण आध्यात्मिक गुण है, रजोगुण है मानवीय गुण और तमोगुण अन्धकार या भ्रम का गुण है। हमारे सारे कर्म इन तीनों गुणों से प्रभावित हैं। यदि कोई व्यक्ति तमोगुण से घिरा हो, तो वह मोहित और भ्रमित रहता है, तथा वह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है। यदि किसी में रजोगुण प्रबल हो, तो उसमें लोभ, महत्त्वाकांक्षा, क्रोध आदि दिखायी पड़ते हैं। ऐसा व्यक्ति स्वयं से कहता है, 'आज मैंने इतना प्राप्त किया। कल मैं और अधिक प्राप्त करूँगा।' यह रजोगुण की पहचान है। फिर आध्यात्मिक गुण अर्थात् सत्त्व की भी विशेषताएँ हैं। परन्तु सत्त्व, वास्तव में, एक प्रकार से आध्यात्मिक अहंकार है। यह दीनता के विपरीत है। मनुष्य यथार्थ में

विनम्र या दीन तभी हो सकता है, जब वह प्रत्येक प्राणी में ईश्वर को देखता है। जब वह ऊँच और नीच, धनी और निर्धन सभी में ईश्वर के दर्शन करता है, तभी वह यथार्थ में विनम्र बनता है। सात्त्विक अहंकार से युक्त पुरुष कहता है, 'मैंने क्रोध को जीत लिया है, काम को वश में कर लिया है, ईर्ष्या पर काबू पा लिया है, अपने सभी दुर्गुणों पर मैंने विजय पा ली है। मैं नैतिक जीवन बिताता हूँ।' वह एक प्रकार के सुख का अनुभव करता है, और वह इस सुख के साथ जुड़ा रहना चाहता है, उससे अलग होना नहीं चाहता। वह अप्रिय कर्म से बचता है। निस्सन्देह यह सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण की अपेक्षा बहुत अच्छा है। यह मुक्ति की एक झलक देता है। यह मुक्ति का एक साधन है, परन्तु स्वयं ही मुक्ति नहीं है।

हमारे धर्मग्रन्थों में एक रोचक कथा आती है। एक मनुष्य को खेत में एक वृक्ष के नीचे गड़े सोने से भरे हण्डे की जानकारी मिली। वह उसकी खोज में निकला। जब वह उस वृक्ष के समीप पहुँचा, तो उसने एक भयावह विषधर को खजाने की रखवाली करते देखा। दोनों में संघर्ष छिड़ गया। वह जीवन-मरण की लड़ाई थी। अन्त में उस व्यक्ति ने उस विषधर को पछाड़ दिया। वह अपनी इस विजय से इतना आनन्दित हो गया कि खुशी से उछलते-झूमते वृक्ष के चक्कर लगाने लगा और उस सोने के घड़े को भी भूल गया, जिसे वह पाना चाहता था। इसी प्रकार जब हम साधना करते हैं, तब हमें कई

प्रकार की परिस्थितियों, आवेगों, ईर्ष्या, राग इत्यादि का सामना करना पड़ता है। हम उन्हें जीतने का प्रयास करते हैं और जब हमें सफलता मिलती है, तो इतने प्रफुल्लित हो जाते हैं कि हम यही भूल जाते हैं कि हमारी साधना का लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है।

अहंकार के दुष्परिणामों को हम सभी जानते हैं। वे अनेक हैं। यह अहंकार ही दूसरों से भय, अलगाव और वैमनस्य का कारण है। हम उपनिषद् में पढ़ते हैं कि जब तुम दूसरे को अपने से भिन्न समझते हो--चाहे वह तुम्हारा पति हो या पत्नी, मित्र हो या ईश्वर--वहाँ तुम दोनों के बीच भय और टकराव रहेगा ही। हिन्दू दर्शन इस सम्बन्ध में एक नीति कथा के माध्यम से शिक्षा देता है। एक स्त्री एक दिन अपने पति की चरण-सेवा कर रही थी। उसकी कलाई में नौ चूड़ियाँ थीं। पति की पद-सेवा करते समय चूड़ियाँ आपस में टकराने लगीं और उससे उत्पन्न खन-खनाहट से पति की नींद में बाधा पड़ने लगी। यह देख उसने एक चूड़ी फोड़ डाली, परन्तु फिर भी पैर दबाते समय बाकी आठ चूड़ियों से आवाज होती रही। अतएव उसने एक-एक करके दो को छोड़ अन्य सभी चूड़ियाँ फोड़ डालीं। परन्तु अभी भी दो के बीच टकराहट होती थी। अन्त में उसने उनमें से एक फोड़ दी और तब एक के ही शेष रहने पर कोई टकराहट न रही!

हिन्दू दार्शनिक कहते हैं कि जब कोई व्यक्ति अहं-कार से मुक्त हो जाता है, तब उसमें अलगाव की प्रवृत्ति

नहीं रहती और वह दूसरों से कुछ छिपाता नहीं है। वह रहस्यमय जीवन नहीं जीता। भगवद्गीता बतलाती है कि जब तुम समस्त भूतों को अपने में और स्वयं को सब भूतों में देखोगे, तब तुम माया के परे, दुःखों के परे, शोक और मोह के परे चले जाओगे। अहंकार का पूर्ण निग्रह ही आत्मज्ञान है, और आत्मज्ञान ही निर्भयता, अमरता और आनन्द का स्रोत है।

अहंकार का दूसरा दोष यह है कि सभी लोग अहंकारी का साथ छोड़ देते हैं। हाँ, यह जरूर है कि चापलूस लोग धनी और शक्तिशाली व्यक्ति को चारों ओर से घेरे रहते हैं, पर वे भी पीठ-पीछे निन्दा करते हैं। सम्पत्ति और विद्वत्ता, जैसा कि श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, स्वयं में बुरी नहीं है। सम्पत्ति से तुम दरिद्रों की और विद्वत्ता से अज्ञानियों की सेवा कर सकते हो, परन्तु जब यह सम्पत्ति और विद्वत्ता अहंकार की अग्नि से तप्त हो जाती है, तब असहनीय हो उठती है। जैसा कि श्रीरामकृष्णदेव ने और भी कहा था, 'जब ठण्डे जल में मटर, गाजर, सेम इत्यादि सब्जियाँ रखते हो, तब तुम उन्हें छू सकते हो, परन्तु जल के गरम हो जाने पर तुम ऐसा नहीं कर सकते।' इसी प्रकार, जब विद्वत्ता, सम्पत्ति अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा अहंकार से तप्त हो जाती है, तब व्यक्ति असह्य हो जाता है।

अहंकार का एक और दुष्परिणाम है। वह व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा का आनन्द

नहीं उठाने देता। अहंकार से ही मतभेद और मनमुटाव उत्पन्न होता है, और लोग दम्भी का बहिष्कार कर देते हैं। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के सम्मुख स्वादिष्ट भोजन का एक थाल रखा है। असावधानी के कारण उसके गले में मछली का एक काँटा अटक गया। अब भोजन कितना ही सुस्वादु क्यों न हो, उसका हर ग्रास बड़ा कष्टप्रद होगा। स्वादिष्ट भोजन सामने है, परन्तु गले में मछली के काँटे के कारण उसे ग्रहण करना दुःखदायी हो जाता है। इसी प्रकार, अहंकार से उत्पन्न दम्भ के फलस्वरूप व्यक्ति अपनी सम्पत्ति अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा का उपभोग नहीं कर पाता।

फिर हम अपने धार्मिक ग्रन्थों में पाते हैं कि अहंकार हमारे और ईश्वर-कृपा के बीच एक रोड़े के समान है। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि अगर धागे का तनिक भी रेशा निकला हुआ हो, तो तुम उसे सुई के छेद में से नहीं निकाल सकते। इसी प्रकार, मनुष्य ईश्वर के साथ तब तक तादात्म्य-लाभ नहीं कर सकता, जब तक तनिक सा भी अहंकार बना हुआ है। श्रीरामकृष्णदेव के अनुसार ईश्वर दो बार हँसते हैं। पहली बार तब हँसते हैं, जब मरीज मरणासन्न हो और वैद्य उसके सम्बन्धियों से कहे, "चिन्ता न करें। मैं इस मरीज को बचा लूँगा।" ईश्वर कहते हैं, "मैं इस व्यक्ति को मारने जा रहा हूँ, और यह मूर्ख चिकित्सक कहता है कि वह इसे बचा लेगा।" वे दूसरी बार तब हँसते हैं, जब दो भाई हाथ में नापने-

वाला फीता लेकर खेत में आते हैं और उसे आर-पार रखकर एक भाई दूसरे से कहता है, "इधर का हिस्सा मेरा और उधर का तेरा।" ईश्वर हँसते हैं और कहते हैं, "यह सम्पूर्ण जगत् मेरा है, परन्तु ये मूर्ख कह रहे हैं, 'यह मेरा और वह तेरा' !"

आज जब बड़ी शक्तियाँ विश्व को विभक्त करने का प्रयास कर रही हैं, तब ईश्वर अवश्य ही हम पर हँस रहे होंगे। ये शक्तियाँ कहती हैं, "यह पूर्व है और वह पश्चिम है।" पूर्वी शक्ति कहती है, "तुम पश्चिमी शक्तियाँ हमारे क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकतीं," और पश्चिमी शक्तियाँ कहती हैं, "यह हमारा महाद्वीप है और हम किसी अन्य को यहाँ प्रवेश नहीं करने देंगे।" ईश्वर हँसते हैं और कहते हैं, "यह विश्व मेरा है, परन्तु ये मूढ़ कहते हैं कि यह मेरा है और वह तेरा है !" और इस प्रकार की मूढ़ता यदि चलती रही, तो फिर परिणति क्या होगी? ——एक सम्पूर्ण तबाही। जब हम अपने अहंकार को अत्यधिक महत्त्व देते हैं, तब ईश्वर हमारी सहायता नहीं करते।

एक समय जब भगवान् नारायण और लक्ष्मीजी बैकुण्ठ में विश्राम कर रहे थे, तब सहसा भगवान् नारायण उठ खड़े हुए। लक्ष्मीजी उनकी पद-सेवा कर रही थीं। उन्होंने पूछा, "प्रभो ! आप कहाँ जा रहे हैं ?" भगवान् ने उत्तर दिया, "मेरा एक भक्त कठिन संकट में है। मुझे उसकी रक्षा करनी पड़ेगी।" इन शब्दों के साथ वे बाहर

चले गये। परन्तु वे शीघ्र ही लौट आये। लक्ष्मीजी ने पूछा, "आप इतने शीघ्र कैसे लौट आये ?" भगवान् ने मुस्कराकर कहा, "वह भक्त मेरे प्रेम में सराबोर हो मार्ग से चला जा रहा था। कुछ धोबियों ने वहीं घास पर वस्त्रों को सूखने डाल दिया था और वह भक्त उन वस्त्रों के ऊपर से चला गया। इस पर उन धोबियों ने उसका पीछा किया और उसे लाठियों से मारना चाहा। इसलिए मैं उसकी रक्षा हेतु भागकर गया।" "फिर आप लौट क्यों आये ?" लक्ष्मीजी ने पूछा। भगवान् हँसे और बोले, "मैंने देखा कि उस भक्त ने स्वयं ही ईंट का टुकड़ा उनकी ओर फेंकने के लिए उठा लिया है, इसलिए मैं वापस आ गया!" यह अहंकार ही भगवत्कृपा और हमारे बीच का व्यवधान है। वही हमें भगवत्प्रेम से विलग कर देता है। भक्तिरूपी जल अहंकार के पर्वत पर से बह जाता है। ईश्वर तो आत्म-समर्पण चाहते हैं।

ईश्वर पर निर्भरता के दो प्रकार हैं। एक निर्भरता वह है, जो एक छोटे से बन्दर के बच्चे की अपनी माँ पर होती है, और दूसरी वह है, जो बिल्ली के बच्चे की अपनी माँ पर। बन्दर का बच्चा अपनी माँ को स्वयं पकड़े रहता है और बन्दरिया वृक्षों पर एक जगह से दूसरी जगह कूदती है। बच्चा यदि अपनी पकड़ छोड़ दे, तो गिर पड़े। परन्तु बिल्ली अपने छोटे बच्चे को मुँह में दबाकर जहाँ उसकी इच्छा हो ले जाती है, कभी उसे फर्श पर रख देती है, तो कभी गुदगुदे बिस्तर पर, और

वह मार्जार-शिशु जहाँ भी माँ रख दे वहीं सन्तुष्ट हो पड़ा रहता है। बिल्ली का बच्चा स्वयं को पूर्णतया अपनी माँ पर छोड़ देता है।

एक अन्य प्रकार का अहंकार है जिसे समूह का अहंकार कहते हैं। कुछ धार्मिक सम्प्रदाय अत्यधिक दम्भी होते हैं और उनका यह दम्भ, यह समूह-अहंकार घृणा और गलतफहमी का कारण होता है। फिर एक अन्तर्राष्ट्रीय अहंकार है, जिसके सम्बन्ध में हम आज अत्यन्त सजग हैं, और यही अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का मुख्य कारण है। यह दूसरे राष्ट्रों के मूल्य पर अपने राष्ट्र का बड़प्पन बनाये रखने की इच्छा है। दो राष्ट्र कोई समझौता नहीं करेंगे, क्योंकि इससे स्वयं का बड़प्पन कम होने का भय बना रहता है। इस प्रकार हम युद्धायुधों का विस्तार करते जाते हैं, और जितनी ही सैन्यशक्ति बढ़ती है, देश की असुरक्षा भी उतनी ही वृद्धिंगत होती है।

अब प्रश्न यह है कि इस दुष्ट अहंकार से कैसे निपटें। तीन उपाय हैं——या तो उसे अस्वीकार करें, या उसका विस्तार कर दें अथवा उसे संकुचित कर लें। इस अहंकार को अस्वीकार करने का क्या मतलब ? हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि बौद्धधर्म की अहंकार सम्बन्धी धारणा क्या है। बुद्ध ने हमें सिखाया कि इस अहंकार में अथवा इस संसार में नित्यता नाम की वस्तु नहीं। हमें केवल क्षणिक संवेदनाओं का ही बोध होता है। यह अहंकार भी संवेदनाओं की एक गठरी है। एक भौतिक

पदार्थ संवेदनाओं के पुंज को छोड़कर और कुछ नहीं है। किसी भी भौतिक वस्तु के पीछे कोई नित्य पदार्थ नहीं है। तब ये वस्तुएँ किस चीज की बनी हैं? इनमें कठोरता है, इनका एक रंग भी है और नाम भी। इनमें और भी विशेषताएँ हैं, पर सारतत्त्व वह पदार्थ कहाँ है? इन सब बतलायी गयी विशेषताओं को यदि हम निकाल दें, तो कुछ भी शेष नहीं रह जायगा। बोधिसत्त्व की कथाओं में एक कथा है कि कोई राजा किसी महात्मा के दर्शन करने गया। उस महात्मा ने राजा से पूछा, "तुम महल से किस प्रकार यहाँ आये?" "क्यों, मैं अपने रथ पर बैठकर आया।" महात्मा ने हँसकर पूछा, "यह रथ क्या है?" "वह बाहर खड़ा है," राजा ने उत्तर दिया, "मैं उसी में बैठकर आया और उसी में बैठकर वापस जाऊँगा।" "इस यंत्र में, जिसे तुम रथ कहते हो, चक्के हैं। तो क्या चक्के ही रथ हैं?" राजा ने उत्तर दिया, "नहीं।" "रथ में एक आसन है। क्या आसन रथ है?" राजा ने पुनः उत्तर दिया, "नहीं।" "सम्भवतः घोड़े?" "या कि जुआ?" "या धुरी?" हर समय राजा ने उत्तर दिया, "नहीं।" इस पर महात्मा ने कहा, "तुम कहते हो 'मेरा' रथ, तब तुम्हारा रथ है कौन सा?" राजा ने कोई उत्तर न दिया। तब महात्मा ने अन्त में कहा, "तुमने जिन सबका वर्णन किया, वे विभिन्न वस्तुएँ हैं।" अतएव बौद्धमत कहता है कि हम अपने भीतर और बाहर जो कुछ देखते हैं, वह सब मात्र संवेगों की गठरी है; हमारे अहंकार में

अथवा इस बाह्य जगत् में कोई नित्य पदार्थ नहीं है।

बौद्धमतावलम्बी एक ज्योति का उदाहरण देते हैं। हम एक स्थिर ज्योति-शिखा देखते हैं, परन्तु वह क्या है ? ज्योति-शिखा तेल में डूबी वत्ती से सतत निकलती हुई चिनगारियाँ मात्र हैं; जब एक चिनगारी विस्फोटित हो अदृश्य हो जाती है, तब दूसरी चिनगारी आती है, इस प्रकार तुम एक के बाद एक चिनगारी देखते जाते हो। ज्योति-शिखा नाम की अलग से कोई चीज नहीं। बर्गसन का भी कथन है कि तुम एक ही नदी में दूसरी बार प्रविष्ट नहीं होते, क्योंकि नदी सतत परिवर्तनशील है। सुकरात पूछते हैं, "यह 'मैं' या 'मेरा' कहाँ है ?" वे कहते हैं, "मुझे पकड़ो तो !" श्रीरामकृष्णदेव पूछते हैं, "प्याज कहाँ है ?" वह मात्र छिलकों की परत है। तुम छिलके की परतों को क्रमशः निकालते जाओ, तो अन्त में कुछ शेष न रहेगा। इसी प्रकार, यदि तुम स्वयं का विश्लेषण करो, तो पाओगे कि 'मैं' या स्थायी अहंकार नाम की कोई चीज नहीं है। इसलिए यदि तुम इन संवेगों को दवा सको, यदि तुम एक संवेग को दूसरे से न जुड़ने दो, तो तुम इस बुद्धत्व की स्थिति को प्राप्त कर लोगे, जो समस्त विक्षेपों से मुक्त और शान्त है। शान्तचित्तता को पाकर तुम मानवता की सेवा कर सकते हो। इस प्रकार, इस दुष्ट अहं से निपटने का एक उपाय है—उसे पूरी तरह अस्वीकार कर देना।

दूसरा उपाय है—अपने अहं का विस्तार, जिससे

वह तुम्हारे व्यक्तित्व की सीमाओं को तोड़ दे। 'तुम' और 'मैं' के बीच का व्यवधान क्या है ? 'मैं' का अन्त और 'तुम' का प्रारम्भ कहाँ है ? प्रतिपल न केवल हमारे तुम्हारे बीच वरन् हमारे और भौतिक कणों के बीच भी आदान-प्रदान चल रहा है। प्रतिक्षण कण बाहर जा रहे हैं और दूसरे कण भीतर आ रहे हैं। व्यवधान को तोड़ दो और इस सीमितता से विलग हो जाओ। यदि तुम अहं का विस्तार करना चाहते हो, तो हमेशा दुहराओ-- 'सोऽहम्', 'ब्रह्मैव इदं सर्वम्'। समष्टि में व्यष्टि को देखो और व्यष्टि में समष्टि को। तब मृत्यु-भय नहीं रहेगा। जब तक एक क्षुद्रतम जीव जीवित है, तब तक तुम जीवित हो। जब तक एक भी मनुष्य खा रहा है, तुम खा रहे हो। यह कठिन है, परन्तु लोगों ने इस अवस्था की प्राप्ति की है।

एक सन्त ने एक घटना हमें सुनायी थी। एक दिन साधुओं के नियमानुसार वे भिक्षा के लिए गये, परन्तु किसी कारणवश कुछ देरी हो गयी थी। गृहस्थों ने भोजन कर लिया था, इसलिए उन्हें कुछ प्राप्त नहीं हुआ। क्षुधित और क्लान्त हो वे एक झाड़ी में घुसकर विश्राम करने का प्रयत्न करने लगे। वे जब इस प्रकार लेटे थे, तब सहसा उन्हें कुछ श्लोकों का स्मरण हो आया और वे उन्हें दुहराने लगे, 'स्वर्ग मेरा भाल है, सूर्य और चन्द्र मेरे नेत्र हैं, मेरा शरीर सारे जगत् में व्याप्त है।' अचानक उन्हें अनुभव हुआ कि वे फैलकर सबमें व्याप्त हो रहे हैं। परन्तु हाँ, सबके लिए ऐसी अवस्था सुलभ नहीं।

फिर एक तीसरा तरीका है। वह अपेक्षाकृत आसान है और वह है अहं का संकुचन। श्रीरामकृष्णदेव के दो महान् शिष्य थे। एक थे स्वामी विवेकानन्द, जो शक्तिमान् थे, तेजस्वी थे, जो सबके साथ अपने एकत्व का अनुभव करते थे। और दूसरे थे नागमहाशय, जो दीन के भी दीन थे। दूसरों के समक्ष वे हमेशा अपने को संकुचित कर लेते थे। कहा गया है कि यह मायाजाल न तो विराट् को बाँध पाता है, न क्षुद्र को। जब माया अपने जाल में स्वामी विवेकानन्द को बांधने गयी, तो उन्होंने अपना इतना विस्तार कर लिया कि जाल छोटा पड़ गया, और जब वह ठगिनी दीन व्यक्ति को बाँधने चली, तो नागमहाशय इतने छोटे हो गये कि जाल के छेद से बाहर निकल आये और इस प्रकार मायाजाल से बच गये। तो, अब प्रश्न यह है कि कोई अपने अहं को कैसे संकुचित करे ? हम हमेशा अनुभव करें, "मैं नहीं, तू ही।" हम यह कहें, "मैं ईश्वर का दास हूँ। मैं ईश्वर का यंत्र हूँ।" इस प्रकार हम स्वयं को अपने अहं से मुक्त कर लेंगे और ईश्वर की इच्छा के प्रकटीकरण का माध्यम बन जायेंगे। और जब हम सचमुच में अपने को ईश्वर का यंत्र समझने लगेंगे, तो ईश्वर हमारे माध्यम से बड़े बड़े कार्य सम्पादित करवायेंगे। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "मैं गृह हूँ, तुम गृही हो। मैं यंत्र हूँ, तुम यंत्री। मैं वैसा ही करता हूँ, जैसा तुम कराते हो। मैं वही बोलता हूँ, जो तुम बुलवाते हो। मैं नहीं, तू ही।"

ईसा मसीह ने भी कहा था, "जिनका हृदय पवित्र है, वे धन्य हैं। जो दीन हैं, वे धन्य हैं।" यहाँ ईसा मसीह हमें कायर वनने के लिए नहीं कह रहे हैं। वे चाहते हैं कि हम वास्तविक दीन बनें। वास्तविक दीनता तभी आती है, जब हम सबमें---चाहे वे बड़े हों या छोटे, अमीर हों या गरीब---ईश्वर को देखते हैं।

श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि दो प्रकार के अहंकार होते हैं, एक तो ज्ञान का और दूसरा अज्ञान का। जब ज्ञान का अहंकार कार्य करता है, तब हम जानते हैं कि 'मैं ईश्वर का पुत्र हूँ,' या कि 'मैं ईश्वर के साथ एक हूँ'। परन्तु जब हम अज्ञान के अहंकार को पसन्द करते हैं, तब अपने आप से कहते हैं, 'मैं कर्ता हूँ, मैं स्वामी हूँ, मैं व्यवस्थापक हूँ,' आदि आदि। यह अज्ञान का फल है। अतएव अज्ञान के अहंकार को 'कच्चा' अहंकार और ज्ञान के अहंकार को 'पक्का' अहंकार कहा जा सकता है। आम, बेर इत्यादि फल कच्चे रहने पर खट्टे होते हैं, परन्तु पकने पर मीठे, स्वादिष्ट हो जाते हैं। इसलिए हमें अपने कच्चे अहंकार को पक्के अहंकार में बदल लेना चाहिए। जब तक हम अहंकार से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक उसे ईश्वर और उसकी सारी सृष्टि का दास बनकर पड़े रहने दो। इस प्रकार का अहंकार हमें हानि नहीं पहुँचाएगा। वह एक आभास मात्र है। विवेक आने पर वह मिट जाता है। वह जली हुई रस्सी के सदृश है, जो रस्सी-सी दिखती तो है, पर स्पर्श मात्र से राख होकर बिखर जाती है। वह एक तलवार

के समान है, जो पारसमणि के स्पर्श से स्वर्ण में परिवर्तित हो गयी है। वह दिखती तो तलवार-जैसी है, परन्तु उससे तुम किसी को नुकसान नहीं पहुँचा सकते। या उसे एक भूना हुआ बीज माना जा सकता है, उसमें बीज का आकार तो है, पर उससे नया पौधा नहीं निकल सकता। इसी प्रकार, जब हमारा अहंकार पक जाता है, संस्कारित या शुद्ध हो जाता है, तो वह हमें इस अनन्त जन्म-मृत्यु के चक्कर से उत्पन्न होनेवाले दुःख और पीड़ा से विमुक्त कर देता है, और तब हम उसका उपयोग मनुष्यों की सेवा, समाज की सेवा के लिए कर सकते हैं। इस प्रकार हम भी धन्य होंगे और संसार भी धन्य होगा। जब हम अपने इस अहंकार को पका लेते हैं, तब इस शरीर के नष्ट होने के बाद हम ईश्वर से एकाकार हो चिर शान्ति और स्वर्गिक आनन्द के अधिकारी बन जाते हैं।

जहाँ यथार्थ धर्म है, वहीं प्रबलतम आत्म-बलिदान है। अपने लिए कुछ मत चाहो, दूसरों के लिए ही सब कुछ करो—यही है ईश्वर में तुम्हारे जीवन की स्थिति, गति तथा प्राप्ति।

—स्वामी विवेकानन्द

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनु० – स्वामी व्योमानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। विभिन्न अवसरों पर दिये उनके कुछ आध्यात्मिक उपदेश कतिपय संन्यासियों एवं भक्तों द्वारा लिपिबद्ध कर लिये गये थे। उन्हीं उपदेशों का कुछ अंश मूल बँगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया गया। उसी का धारावाहिक अनुवाद यहाँ पर 'उद्बोधन कार्यालय' के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है। --सं०)

स्थान–बेलुड़ मठ
१९१४

ठाकुर कहते थे, "तीन प्रकार के आकर्षणों के एक होने पर भगवान् मिलते हैं। विषय पर विषयी का, पुत्र पर माता का और पति पर सती का, इन तीन प्रकार के आकर्षणों की एकत्र तीव्रता जब भगवान् पर होती है, तभी भगवान् मिलते हैं।" इस वाणी का अर्थ क्या है ? जब सारी वासनाएँ मन से दूर हो जायँगी और जब मन में भगवान्-लाभ के लिए प्रबल आकांक्षा जागेगी, तभी उनकी प्राप्ति होगी, तभी उनका दर्शन-स्पर्शन करके हम लोग धन्य हो सकेंगे। गीता में भगवान् ने कहा है-- "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज," सब कुछ त्याग-कर मुझमें शरण लो। शरणागति, शरणागति, शरणागति --इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। कलि में जीव अन्नगतप्राण है, अल्पायु है। अल्प काल में वहुत से काम कर लेने होंगे। उतनी शक्ति-सामर्थ्य, त्याग-तपस्या और साहस नहीं है, मन दुर्बल है, इसीलिए भोग पर आसक्ति

अधिक है। तो भी भगवान् को पाना ही होगा, नहीं तो यह जीवन वृथा ही हुआ, सिर्फ आना-जाना ही हाथ लगा। उनके शरणागत होकर पड़े रहने के सिवाय इस युग में और कोई सहज मार्ग नहीं है।

× × ×

'शरणागति' से हम क्या समझते हैं? हम लोगों को क्या कुछ नहीं करना होगा--हम लोग क्या हाथ-पैर समेटकर बैठे रहेंगे?--नहीं ऐसा नहीं। उनसे सरल हृदय से सर्वदा प्रार्थना करनी होगी, "हे प्रभो! मैं कुछ भी नहीं जानता, मैं तुम्हारा आश्रित हूँ; मुझमें जो कमी है, उसे तुम पूरा कर दो; जिस रास्ते जाने से मेरा कल्याण होगा, उस रास्ते से ले चलो; तुम्हारा स्मरण-मनन कर सकूँ ऐसी शक्ति दो।"

शरणागत होकर पड़े रहना क्या सरल है रे? मुँह से अनेक लोग कहते हैं, मैं उनका शरणागत हूँ--वे जैसा करा रहे हैं, वैसा ही करता हूँ। किन्तु उन लोगों के जीवन को बारीकी से देखने पर पता लगेगा कि वे मुँह से जो कहते हैं, ठीक उसका उल्टा कर रहे हैं। कुछ अच्छा काम करने पर मनुष्य भगवान् को भूलकर 'मैंने किया है', 'मैंने किया है' कहते हुए कूदने लगता है। ज्योंही कुछ विपत्ति आयी कि तुरन्त भगवान् के सिर पर दोष मढ़ता है और कहता है, 'वे मुझे कष्ट दे रहे हैं, दुःख दे रहे हैं,' इत्यादि। अधिकांश लोग इसी तरह जीवन बिताते हैं।

हम लोग बाहर का movement (चाल-चलन) देखकर विचार करते हैं, वह अच्छा है या बुरा; किन्तु भगवान् अन्तर्यामी हैं--वे मन देखकर विचार करते हैं। सरल हृदय से एक वार पुकारने से ही वे दौड़े आते हैं। सरल होओ, मन-मुख एक करो, उनके राज्य में अन्याय नहीं है।

ठाकुर कहते थे, "मैंने सोलह आने किया है, तुम लोग एक आना तो करो।" कितना सहज कर दिया है, सिर्फ इतना ही समझकर धारणा कर लो।...पर हम लोग इतने कामचोर हैं, इतने बेगार टालनेवाले हैं, स्वयं को ठगाने में इतने पक्के हैं कि पका हुआ भोजन भी मुँह में डालते हमसे नहीं बनता। मुझसे अनेक लोग कहते हैं, आशीर्वाद दीजिए, कृपा कीजिए। यह सुनकर मुझे हँसी आती है। जो करने के लिए कहता हूँ, वह तो करता नहीं, यहाँ से जाकर अपनी इच्छानुसार काम करता है, और सोचता है कि मैं एक बहुत ही समझदार आदमी हूँ। यदि पूछा जाय, जैसा मैंने कहा था वैसा करने की कोशिश कर रहे हो तो? उत्तर में या तो कहेगा कि समय नहीं मिल रहा है, या फिर कहेगा कि मुझ जैसे दुर्बल, पापी द्वारा भला क्या हो सकता है? अरे, यदि विश्वास ही न हो, बात ही न सुननी हो, तो जो इच्छा है करो न तुम। केवल टालमटोल करने की कोशिश करता है। इस प्रकार के जो लोग मेरे पास आते हैं, उन लोगों से हँसी-मजाक और फालतू बातें

करके ही मैं समय बिता देता हूँ। क्यों व्यर्थ में बककर हैरान होऊँ? और जिनके सम्बन्ध में ऐसा लगता है कि वे मेहनत करेंगे, कोशिश करेंगे और बात मानेंगे, उन लोगों को साधन-भजन की बातें बतला देता हूँ, और वे लोग भी ठीक तरह से करने की कोशिश करते हैं। बचपन से टालमटोल करते करते टालमटोल करने का ऐसा स्वभाव बन गया है कि सभी बातों को टालमटोल करके पूरा कर लेना चाहता है!

उनका आशीर्वाद तथा कृपा क्या कम है? मनुष्य सिर नवाकर लेगा नहीं, आंख उठाकर देखेगा भी नहीं। सिर्फ फालतू बातें करेगा। असल वस्तु कौन चाहता है? लम्बी-चौड़ी बातें करना और फालतू बकना ही मनुष्य का स्वभाव है। इसी तरह जीवन बिताता है। इसलिए फल भी वैसा ही पाता है। "गुरु मिले लाख लाख, चेला मिले न एक।" उपदेश देने के लिए बहुत लोग मिलते हैं, पर उपदेश सुनने के लिए लोग कहाँ? गुरु-वाक्य में विश्वास कर मनुष्य यदि साधना करते हुए बढ़ता जाय, तो उसके सारे द्वन्द्व मिट जाते हैं। उसे क्या फिर इधर-उधर दौड़ना पड़ता है? भगवान् ही उसका अभाव मिटा देते हैं, उसका हाथ पकड़कर ठीक रास्ते से ले जाते हैं। उन्होंने जिस पर कृपा की है, उसे फिर चिन्ता क्या? अक्षय भण्डार से always supply होता रहता है (सर्वदा रसद आती रहती है)।

सदिच्छा, सद्वासना, सद्भाव—यह लाख व्यक्तियों

में शायद एक का ही होता है। इस तरह के लाख व्यक्तियों में से बहुतेरे लोग अन्त तक नहीं टिकते। जिन लोगों के मन में सद्भावना जाग गयी है, उनके लिए यह उचित है कि वे इस भाव को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए जी-जान से जुट जायें। खाते-पीते, उठते-बैठते सब समय प्रार्थना करो—"प्रभो, तुम्हारी कृपा को समझने और धारणा करने की शक्ति दो।"

ठाकुर एक सुन्दर उदाहरण देते थे। बड़े आदमियों के घर में नौकरानी रहती है। वह सर्वदा मालिक की वस्तुओं को 'मेरा' 'मेरा' कहती रहती है, किन्तु मन ही मन ठीक जानती है कि यह सब मेरा नहीं है। उसी प्रकार हम लोगों को जितने दिन इस पृथ्वी में रहना है, छोटा-बड़ा कुछ न कुछ करना ही होगा, किन्तु मन में ठीक जान लेना होगा कि असल में यह मेरा घर नहीं है, सिर्फ सराय मात्र है। श्रीभगवान् का पादपद्म ही मेरा सच्चा घर है और जिस किसी भी तरह से हो मुझे वहाँ जाना ही होगा।

सत्य का आश्रय लेना, भगवान् का आश्रय लेना भला कितने लोग चाहते हैं? सभी सोचते हैं, मैंने जैसा समझा है, वही सही है और वही सभी लोगों का एकमेव पथ है। अहंकार के वशीभूत हो मनुष्य स्वयं को इतने ऊँचे आसन पर बिठा लेता है कि बहुधा भगवान् का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करता। क्या कहता है, जानते हो? मैं जिसे समझ नहीं पाया,

उसे नहीं मानता। एक बार भी सोचकर देखता नहीं कि उसकी बुद्धि की दौड़ आखिर कहाँ तक है? आज जिसे ठीक समझकर पकड़ता है, कल उसी को गलत सोचकर छोड़ देता है, इस प्रकार रोज ही मत change (परिवर्तन) करता रहता है। और इस बुद्धि की दौड़ दिखाने के लिए मनुष्य असार को ही सार समझ लेता है!

महामाया कितनी तरह से मनुष्य को भुलाकर रखती है, यह तो वही जाने। किन्तु हम लोग जानते हैं, भगवान् के भाव की 'इति' नहीं करनी चाहिए। वे अनन्त भावमय हैं। वे मन और बुद्धि के अगोचर हैं। वे जिसे दिखाते हैं, बतलाते हैं, समझाते हैं, वही उन्हें देख-जान सकता है और समझ सकता है। उन्हें जानने से ज्ञान के द्वार खुल जाते हैं, सारी गाँठें खुल जाती हैं। मनुष्य को जब यह अवस्था प्राप्त होती है, तब उसे ठीक ठीक धारणा होती है कि मैं उनका हूँ और वे मेरे हैं।

माँ यदि ज्ञान-राशि न उँड़ेलती जायँ, तो ज्ञान कहाँ से पाओगे? इस लोक या परलोक का रहस्य तभी खुलेगा, जब वे कृपा करके सब द्वार खोल देंगी। हम लोग जिसे बुद्धि कहते हैं, वह असल में बुद्धि ही नहीं है—उसकी area (सीमा) खूब limited (संकीर्ण) है। जिन्हें इस जीवन में ही असल आनन्द पाने की इच्छा है एवं जो 'मैं कौन हूँ', 'क्यों यहाँ आया हूँ', 'क्यों दुःख-कष्ट पा रहा हूँ', 'मनुष्य क्यों देवत्व या पशुत्व लाभ करता है', इत्यादि जटिल समस्याओं के हल के लिए उत्सुक हैं, उन

लोगों के लिए यही एकमेव कर्तव्य है कि किसी भी प्रकार से भगवान् को पा लें। उन्हें जानने से सारे प्रश्नों की मीमांसा हो जायगी, सभी प्रश्नों की 'इति' हो जायगी।

बच्चे लोग खम्भा पकड़कर उसके चारों तरफ खूब जोर से घूमते हैं—उससे उन्हें बहुत आनन्द होता है। किन्तु उन लोगों का मन कहाँ रहता है, जानते हो ? उस खम्भे पर। वे लोग अच्छी तरह जानते हैं, खम्भा छोड़ देने से वे गिर जायँगे और उन्हें चोट लगेगी। खम्भे को खूब जोर से पकड़कर चाहे फिर जितने चक्कर काटो, कोई भय नहीं। उसी तरह पहले उन्हें जानना होगा, उन्हें जानकर खम्भा जोर से पकड़ रखना होगा। खम्भा जोर से पकड़कर जो भी करोगे, ठीक ही होगा, पैर कभी भी गलत रास्ते पर नहीं जायँगे। तब ज्ञान, भक्ति या कर्म किसी भी मार्ग से क्यों न बढ़ो, तुम स्वयं के लिए और दस लोगों के लिए कल्याणस्वरूप हो जाओगे, तुम्हारा मनुष्य-जन्म सार्थक हो जायगा।

स्थान–अद्वैत आश्रम, वाराणसी

२७ फरवरी, १९१४

श्री महाराज ने एक भक्त से जिज्ञासा की, "क्या तुम आजकल ध्यान या prayer (प्रार्थना) करते हो ?"

भक्त– नहीं महाराज, कुछ भी नहीं करता।

महाराज– थोड़ा थोड़ा करना अच्छा है। शान्ति पाओगे, मन स्थिर होगा। तुम लोगों के कुल-गुरु तो हैं न ? क्या तुमने अभी तक दीक्षा नहीं ली ? दीक्षा तो

जब चाहे ले सकते हो। थोड़ा थोड़ा जप-ध्यान करना। रुद्राक्ष की एक माला खरीद लेना। उससे १०८ या १०८० बार जप करना। इच्छा होने पर और भी अधिक कर सकते हो।

भक्त– किसका जाप करना होगा ?

महाराज– भगवान् के नाम का जप करना। जिस देवता पर तुम्हारी अधिक श्रद्धा और भक्ति है, उसके नाम का जप कर सकते हो। अपने हृदय में या बाहर में भगवान् का ध्यान करना।

भक्त– कोई एक निश्चित रूप न होने से तो ध्यान नहीं होगा, तो फिर कौन सा रूप लेना होगा ?

महाराज– जो सद्गुरु हैं, वे ध्यान में यह जान ले सकते हैं कि शिष्य की किस देवता पर अधिक श्रद्धा है। और वही उसे बतला देते हैं। उसके बाद मानस-पूजा है। लोग जैसे बाह्य पूजा में फल-चन्दन प्रदान करते हैं, आरती इत्यादि करते हैं, उसी प्रकार मानस-पूजा में मन ही मन उनका स्मरण कर यह सब करना पड़ता है।

आज से ही लग जाओ। सन्ध्या समय से ही आरम्भ कर दो। मानस-पूजा अभी रहने दो। रोज सबेरे और शाम को जप और ध्यान करना। इस तरह करो तो सही। देखोगे, कितना आनन्द मिलेगा, तन्मयता आयगी, और भी बहुत कुछ देख पाओगे। इसके बाद जो कुछ करना होगा, सब मैं यथा समय बतला दूँगा।

भक्त– तो फिर मानस-पूजा अभी नहीं करूँ ?

महाराज– नहीं, मानस-पूजा अभी रहने दो। कब करनी होगी यह मैं वतला दूँगा, जब तुम दीक्षा लोगे। अभी दीक्षा लेने की कोई आवश्यकता नहीं। बस, यही करते जाओ। अब और अधिक समय नष्ट मत करो। लग जाओ। एक आसन, कम्बल या जो भी हो खरीद लो। उसे अच्छी तरह रखना। अन्य किसी काम के लिए उसका व्यवहार मत करना। केवल इन्हीं सब कामों के लिए उसे व्यवहार में लाना। तुम लोगों के बगीचे में तो सुन्दर निर्जन स्थान है। घर में यदि कुछ गड़बड़ी या असुविधा हो, तो बीच बीच में वहाँ जाकर कर सकते हो। और यहाँ, वाराणसी जैसे स्थान में, शीघ्र ही हो जायगा। दो वर्ष ऐसा करो तो सही। किसी किसी का तो शीघ्र ही हो जाता है---एक वर्ष में ही हो जा सकता है। एक बार लग तो जाओ सही। कुछ दिन बाद इतना आनन्द पाओगे कि फिर उठने की इच्छा नहीं होगी---सिर्फ ध्यान करने की इच्छा होगी। सीधे होकर पैर मोड़कर बैठना, दोनों हाथ हृदय के पास या पेट के ऊपर रखकर (स्वयं दिखाकर) ध्यान करना। कैसे बैठना होगा, यह मैं अन्य किसी दिन अच्छी तरह दिखा और समझा दूँगा।

बीच बीच में साधु-संग करना। कभी कभी सद्-ग्रन्थ पढ़ना। कभी कभी मेरे पास आना। आसन में बैठते ही ध्यान आरम्भ मत करना। दो-तीन मिनट चुपचाप बैठकर मन को blank (शून्य) करने का प्रयत्न करना, जिससे मन में अन्य कोई विचार न उठे। उसके

बाद ध्यान करना। पहले दो वर्ष तक बलपूर्वक मन को लगाना होगा, बाद में आप ही आप होने लगेगा। जिस दिन अधिक काम-काज रहेगा, उस दिन कम से कम एक बार करना या १०-१५ मिनट में समाप्त कर लेना। विशेष असुविधा होने पर सिर्फ एकबार उनका स्मरण कर प्रणाम कर लेना। सबेरे मुँह और हाथ-पैर धो, कपड़ा बदलकर बैठ जाना। थोड़ा सा गंगाजल भी स्पर्श कर लेना। सन्ध्या समय भी ऐसा ही करना। रुद्राक्ष की माला खरीदकर गुँथा लेना। फिर गंगा में, अच्छी तरह स्नान कराकर भक्तिभाव से उसे विश्वनाथ से स्पर्श करा लेना। ऐसा करते जाओ भला; देखोगे, मन में शान्ति आयगी और खूब आनन्द में रहोगे। और morality (नैतिकता) के सम्बन्ध में इन दो बातों का पालन करना——सत्य बोलना और पर-स्त्री को माँ के समान देखना। बस, और कुछ नहीं करना होगा। इन दोनों का पालन करने से ही सब हो जायगा। ईश्वर पर खूब भक्ति करना। ईश्वर हैं। ईश्वर नहीं हैं ऐसा कभी मत सोचना। मैं कहता हूँ ईश्वर हैं——निश्चित हैं जानना। आज से ही लग जाओ, समझे ? अब और देर न करो। मैं भी तो हूँ——बीच बीच में वतला दूँगा। आज से ही आरम्भ कर दो।

*

स्वामी शुभानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

सन् १९०२ में जब युगाचार्य विवेकानन्द अपने भक्तों के साथ काशी आ रहे थे, तब मुगलसराय स्टेशन पर उनकी अगवानी करने के लिए स्वामी शिवानन्दजी और निरंजनानन्दजी के साथ युवक चारुचन्द्र भी उपस्थित थे। तत्कालीन असंख्य युवकों के समान चारुचन्द्र भी स्वामी विवेकानन्दजी को अपना हृदय-सम्राट मानते थे तथा सतृष्ण नेत्रों से स्वामीजी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। स्वामीजी मुगलसराय स्टेशन पर उतरे तथा उन्हें श्री कालीकृष्ण ठाकुर के भवन में ले जाया गया, जहाँ उनके निवास की व्यवस्था थी। यहाँ चारुचन्द्र को युगाचार्य को अधिक समीप से देखने और उनकी सेवा करने का अवसर मिला। जब निरंजनानन्दजी ने स्वामीजी को बताया कि चारुचन्द्र आदि कुछ युवक काशी में रुग्ण तीर्थयात्रियों और असहाय व्यक्तियों की सहायता का कार्य बड़े उत्साह से कर रहे हैं तथा उन्होंने 'पूअर मेन्स रिलीफ एसोसिएशन' नामक समिति भी कायम की है, तो वे बड़े प्रसन्न हुए। एक दिन उन्होंने चारुचन्द्र तथा अन्य सेवाभावी युवकों से कहा, "सेवाधर्म की सहायता से सर्वभूतों के साथ ईश्वर की एकता सहज रूप से अनुभवगम्य है। किन्तु तुम लोग अपने जीवन में दया को ऊँचा स्थान दे रहे हो। याद रखो, दया-प्रदर्शन का अधिकार तुम्हारा नहीं है। जो सर्वभूतों के ईश्वर हैं, वे ही

दया-प्रदर्शन के अधिकारी हैं। जो दया दिखाता है, वह निश्चित रूप से गर्वीला और अहंकारी होता है, क्योंकि वह दूसरों को स्वयं से निम्न या हीन समझता है। दया नहीं, सेवा ही तुम्हारे जीवन की नीति हो। शिवज्ञान से जीवसेवा के द्वारा कर्म को धर्म के रूप में परिणत करो। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति जीव के दुःख को दूर नहीं कर सकता। तुम लोग 'पूअर मेन्स रिलीफ' क्या करोगे ? झूठा रंग मत दो। अपनी समिति का नाम दो 'होम ऑफ सर्विस'––सेवाश्रम।" स्वामीजी के इन वचनों ने चारुचन्द्र आदि उपस्थित युवकों के हृदय को छू लिया था। उन्होंने अपनी समिति का नाम रखा–– 'रामकृष्ण होम ऑफ सर्विस' अर्थात् रामकृष्ण सेवाश्रम।

शिवानन्दजी के अनुरोध पर स्वामीजी ने जिन दो युवकों को मंत्र दीक्षा दी थी, उनमें चारुचन्द्र भी थे। श्री गुरु के सान्निध्य में जहाँ चारुचन्द्र की आध्यात्मिकता में गहराई आयी थी, वहाँ स्वामीजी के सेवादर्श ने भी उन्हें पूरी तरह से अनुप्राणित कर लिया था। स्वामीजी ने स्वयं सेवाश्रम की सहायता के लिए एक अपील लिखी थी, जो रामकृष्ण मिशन के इतिहास के लिए एक मूल्यवान दस्तावेज है। सन् १९०५ में कलकत्ता के उपेन्द्रनारायण देव और हुगली के भवतारिणी पाल के द्वारा दिये गये दान से काशी के लक्सा मुहल्ले में सेवाश्रम हेतु विस्तृत भूमि खरीदी गयी। सन् १९०८ में इस भूमि पर सेवाश्रम-भवन का शिलान्यास किया गया और दो वर्ष के अनवरत

प्रयासों के फलस्वरूप सन् १९१० में नवनिर्मित सेवाश्रम-भवन का उद्घाटन हुआ। इस प्रकार स्वामीजी ने चारुचन्द्र तथा अन्य युवकों के हृदय में सेवा-भाव का जो बीज बो दिया था, वह कालान्तर में सेवाश्रम-भवन रूपी विराट् वट-वृक्ष के रूप में विकसित हुआ था। जब स्वामी शिवानन्दजी ने ४ जुलाई, १९०२ को स्वामीजी की महासमाधि का समाचार सुना था, तो दूसरे दिन उन्होंने चारुचन्द्र से कहा था, "स्वामीजी कभी कभी कहा करते थे कि काशी का काम ही मेरा अन्तिम कार्य है। उनकी बातें कैसे आश्चर्यजनक रूप से फलीभूत हुईं! कुछ महीने पूर्व ही वे तुम लोगों के भीतर सेवा-धर्म का बीज बो गये थे। उन्हीं की इच्छानुसार कल अद्वैत आश्रम की प्रतिष्ठा की गयी और कल ही वे महासमाधि में लीन हो गये। इस घोर विपत्ति के द्वारा भारत का क्या कल्याण होगा, कौन जाने? पर ठाकुर और स्वामीजी ने जिस कर्मपथ का निर्देश किया है, वही भारत के प्रत्येक नरनारी का कल्याणकारी गन्तव्य पथ है।"

चारुचन्द्र ने सेवाश्रम के विकास तथा उसकी बहुमुखी प्रगति में अपने आपको पूरी तरह से लगा दिया था। उनकी अटूट कर्मठता से सेवाश्रम बृहत् से बृहत्तर होने लगा। उन्होंने दरिद्र शिशुओं और असहाय वृद्धों के लिए पृथक् पृथक् आश्रम की व्यवस्था की। सन् १९१३ में जब स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने कुछ समय वहाँ निवास किया था, तब उनकी प्रेरणा से प्रथम बार वहाँ दुर्गापूजा का आयोजन

किया गया। भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के त्यागी शिष्य कलकत्ता से वहाँ आते रहते थे। सन् १९१२ में श्री माँ सारदा देवी भी वहाँ आयीं थीं तथा उन्होंने आशीर्वाद स्वरूप सेवाश्रम को दस रुपये प्रदान किये थे। वे सेवाश्रम को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं और बोलीं, "यह स्थान मुझे इतना अच्छा लग रहा है कि मेरी यहीं स्थायी रूप से रहने की इच्छा हो रही है।" तुरीयानन्दजी यहाँ अनेक बार आये थे तथा सन् १९१९ से साढ़े तीन वर्ष तक वे यहीं रहे। उन्होंने सेवा के मर्म को स्पष्ट करते हुए कहा था, "सेवाश्रम में रोगी की सेवा साक्षात् नारायण की सेवा है। शिवावतार स्वामीजी के वचनों पर विश्वास करो, सेवाश्रम में शिव की सेवा में लग जाओ। इससे तुम मुक्त हो जाओगे, तुम्हारे पूर्वजन्मों के कर्म नष्ट हो जायेंगे और तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जायगा। नारायण-ज्ञान से सेवा ही इस युग की उपयोगी साधना है।" चारुचन्द्र आदि युवकों को प्रोत्साहित करते हुए उन्होंनें कहा था, "तीन दिन तक ठीक ठीक नारायण-सेवा कर सको, तो प्रत्यक्ष उपलब्धि होगी। जिन्होंने किया है, उन्होंने इसका अनुभव किया है।"

चारुचन्द्र ने सुदीर्घ बीस वर्षों तक अथक रूप से सेवाश्रम में सेवा-कार्य किया था। इसके उपरान्त वे कुछ समय तक प्रयाग में रहकर तपस्या करते रहे। उन्हें ऐसा लग रहा था कि उनके जीवन की कर्मठता का युग अब समाप्त हो रहा है तथा साधना और तपश्चर्या का काल

समीप आ गया है। सन् १९२१ में स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने उन्हें संन्यास-व्रत में दीक्षित किया और स्वामी शुभानन्द बना दिया।

चारुचन्द्र का पूरा नाम था चारुचन्द्र दास। उनका जन्म कलकत्ता के मुसलमान पाड़ा लेन में श्यामाशंकर दास के चतुर्थ पुत्र के रूप में हुआ था। जिस समय वे रिपन कालेज में द्वितीय वर्ष के छात्र थे, तभी से उनकी आध्यात्मिकता कुछ कुछ प्रस्फुटित होने लगी थी। उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के गृही भक्त रामचन्द्र दत्त की वक्तृताएँ सुनी थीं और इस प्रकार वे देवमानव के जीवन से परिचित हुए थे। वे अपने समभावी सहपाठियों के साथ प्रति मंगलवार सन्ध्या दक्षिणेश्वर जाया करते और वहाँ सत्-चर्चा तथा ईश्वर-चिन्तन में समय बिताया करते। उन दिनों हैरिसन रोड में महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी भी अवस्थान कर रहे थे। वहाँ नित्य भागवत-पाठ एवं कीर्तन का आयोजन होता था। चारुचन्द्र वहाँ के नियमित श्रोता थे। इन सब बातों में मन देने से पढ़ाई-लिखाई के प्रति उनकी रुचि जाती रही और उनकी पढ़ाई वहीं खत्म हो गयी।

चारुचन्द्र की धार्मिकता को देखकर उनके माता-पिता बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने अपने पुत्र को सांसारिक बनाने के लिए बहुत प्रयास किया, पर चारुचन्द्र संसार में नहीं बँधे। कुछ दिनों तक चारुचन्द्र ने एक दफ्तर में काम भी किया। वे दस से चार बजे तक काम करने के

उपरान्त अपना सारा समय साधन-भजन और धर्मग्रन्थों के पाठ में बिता दिया करते। नौकरी से उनकी साधना में कोई बाधा नहीं हुई। सन् १८९५ में उन्होंने केदार-बदरी की यात्रा की थी। सन् १८९७ की २१ फरवरी को जब युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द पश्चिमी देशों को वेदान्त का अमर सन्देश सुनाने के उपरान्त सियालदह स्टेशन पर उतरे थे, तब उनकी अभ्यर्थना हेतु उपस्थित विशाल जनसागर में चारुचन्द्र भी थे। वे विशाल भीड़ को चीरते हुए स्वामीजी के समीप पहुँचे थे तथा उनकी बग्घी को खींचते हुए महान् गौरव का अनुभव किया था। उन्हें प्रतीत हुआ था--"मैं उसी विश्वप्राण श्री जगन्नाथ जी के रथ को खींच रहा हूँ।" चारुचन्द्र स्वामीजी के दर्शन से इतने अभिभूत हुए थे कि दूसरे दिन पुनः वे काशीपुर में गोपाललाल शील के घर जा पहुँचे थे, जहाँ स्वामीजी को ठहराया गया था।

स्वामीजी के देवदुर्लभ साहचर्य में चारुचन्द्र को एक नयी आध्यात्मिक उद्दीपना मिली। वे आलमबाजार और बाद में बेलूड़ मठ में निरन्तर आते-जाते रहे। निरंजनानन्दजी उनसे बहुत स्नेह करते तथा धार्मिक जीवन के सम्बन्ध में उपदेश दिया करते। यद्यपि चारु-चन्द्र स्वामीजी से मिलने में संकोच का अनुभव करते थे, पर उनकी बातें वे मुग्ध होकर सुना करते। निरंजना-नन्दजी ने उन्हें ठाकुर की एक छबि दी थी, जिसकी वे नित्य पूजा करते। सन् १८९८ में चारुचन्द्र के माता-पिता

जीवन का शेष भाग काशी में बिताने की इच्छा से काशी चले आये। अतः चारुचन्द्र भी कलकत्ता में नहीं रुक सके। उन्होंने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया और काशी आ गये। यहाँ के पुनीत वातावरण में वे अधिक एकाग्र मन से भजन-पूजन में लग गये।

काशी में चारुचन्द्र के दो अभिन्न मित्र थे—केदारनाथ मौलिक और यामिनी रंजन मजूमदार। जब 'उद्‌बोधन' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तब निरंजनानन्दजी ने चारुचन्द्र को काशी में इसके कुछ सदस्य बनाने के लिए कहा। इसी सिलसिले में चारुचन्द्र केदारनाथ मौलिक से मिले थे और शीघ्र ही वे दोनों घनिष्ट हो गये थे। 'उद्‌बोधन' में बीच बीच में स्वामी विवेकानन्दजी के लेख तथा उनकी अन्य रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। चारुचन्द्र बड़ी श्रद्धा से अपने मित्रों के साथ 'उद्‌बोधन' का पारायण करते। एक बार विवेकानन्दजी की 'सखा के प्रति' नामक कविता 'उद्‌बोधन' में छपी। चारुचन्द्र उसे पढ़कर अभिभूत हो गये। सन्ध्या के समय उन्होंने उच्च स्वर से अपने मित्रों को यह कविता पढ़कर सुनायी और कहा," अरे, स्वामीजी की वाणी सुनो। हम अपने सामने जो इन व्याधिपीड़ित, भूखों और दरिद्रों को देखते हैं, वे ही हमारे ईश्वर हैं, हमारे नारायण हैं, हमारे शिव हैं...। स्वामीजी कहते हैं कि इस जगत् के प्रत्येक जीव में ईश्वर या ब्रह्म का वास है। सर्वभूतों में ब्रह्म विद्यमान हैं—इसी भाव को जगाना समस्त धर्मों,

सभी साधनाओं और सकल कर्मों का सार है। आज स्वामीजी ने हमें यही बात समझा दी। इस भाव से अनुप्राणित होकर व्यक्तिगत जीवन को उन्नत और शक्ति-सम्पन्न बनाना ही साधना का श्रेष्ठ रूप है।"

स्वामीजी का यह नवीन भाव विद्युत्-वेग से चारुचन्द्र के प्राणों में संचरित होने लगा। पुण्यनगरी काशी में प्रतिदिन सैकड़ों यात्रियों का आवागमन होता रहता। प्राय: सभी लोग पण्डों की लूट-खसोट से पीड़ित थे। असहाय वृद्ध और रुग्ण व्यक्ति तो सड़क के किनारे पड़े पड़े मृत्यु की प्रतीक्षा करते रहते थे। एक बार यामिनी रंजन गंगास्नान कर लौट रहे थे। रास्ते में उन्होंने एक रुग्ण वृद्धा को अत्यन्त शोचनीय दशा में देखा। उन्होंने तत्काल वृद्धा की परिचर्या आरम्भ की और भिक्षा माँग उसके पथ्य का प्रबन्ध किया। चारुचन्द्र समाचार पाकर वहाँ आये और दोनों ने वृद्धा को उठाया तथा घर पर उसकी शुश्रूषा का प्रबन्ध किया। यही सेवाश्रम का प्रारम्भ था।

चारुचन्द्र और यामिनी बड़ी तत्परता से नारायण-ज्ञान से सेवा के कार्य में लग गये। वे गली गली घूमते और असहाय और रुग्णों को घर लाकर उनके दु:ख को दूर करने का प्रयास करते। इस प्रकार काशी में चारुचन्द्र के नेतृत्व में अनाथाश्रम या 'पूअर मेन्स रिलीफ एसो-सिएशन' का गठन हुआ। सितम्बर सन् १९०० में रामपुरा में पाँच रुपये किराये पर एक मकान लिया गया, जहाँ सेवा

का वह महायज्ञ प्रारम्भ हुआ, जिसकी परिणति 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम' के रूप में हुई।

संन्यास-ग्रहण करने के पूर्व तक चारुचन्द्र ने सेवाकार्य में जिस तीव्रता के साथ अपने को नियुक्त किया था, अब संन्यासी शुभानन्द से रूप में उन्होंने उसी तीव्रता से विरागमूलक तपस्याप्रवण जीवन को अंगीकार कर लिया। वे एक परिव्राजक के रूप में मुक्त जीवन बिताने की प्रबल इच्छा से प्रेरित हो तीर्थाटन पर निकले। उन्होंने बहुत समय तक उत्तराखण्ड के विभिन्न तीर्थों में भ्रमण करते हुए तपस्या की और सन् १९२४ में पुनः काशी लौटे। पर इस बार वे कर्मरत नहीं हो सके। उनके परामर्श से सन् १९२५ में देहरादून के समीप किशनपुर में 'श्रीरामकृष्ण साधन कुटीर' की स्थापना की गयी। वे चाहते थे कि कनखल स्थित सेवाश्रम के कर्मक्लान्त साधु कुछ दिन वहाँ रहकर साधन-भजन करें। वे स्वयं वहाँ रहकर तपस्या करने लगे। पर उनका शरीर लगातार बीस वर्षों का अटूट परिश्रम और तपस्या की कठोरता नहीं सह सका। वे अस्वस्थ हो गये। 'उन्हें चिकित्सा के लिए काशी लाया गया। पर काशी में बहुत गर्मी पड़ती है। अतः उन्हें कनखल ले जाने का प्रबन्ध होने लगा। शुभानन्द तो काशी में ही शरीर-त्याग करना चाहते थे, पर उनका यह संकल्प ईश्वर को मंजूर न था। कनखल की हिमालयीन जलवायु ने उनके स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव डाला और उनका शरीर कुछ स्वस्थ होने लगा। वे प्रतिदिन प्रातःकाल भ्रमण

के लिए जाया करते थे। एक दिन भ्रमण से लौटते समय उनकी गंगा में स्नान करने की इच्छा हुई। वे कपड़े और जूते घाट में रखकर नदी में उतरे, पर कुछ ही देर में गंगा मैया ने उन्हें अपने जल में विलीन कर लिया। कुछ दूर पर 'पंजाबी सत्र' के साधुओं ने उन्हें बहते देखकर बाहर निकाला। उनकी प्राणरक्षा की बड़ी चेष्टा की गयी पर पतितपावनी पुण्यतोया भागीरथी ने उन्हें अपने अंक में सदैव के लिए भर लिया था।

स्वामी शुभानन्द के जीवन में अथक कर्मनिष्ठा और गहन-गम्भीर आध्यात्मिकता का मणि-कांचन-योग हुआ था। यद्यपि वाराणसी का सेवाश्रम उनकी कर्मठता का सुफल था, पर वे स्वयं को साधन मात्र समझते थे। उनका जीवन 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के मंत्र का जीवन्त भाष्य था।

•

मानस-पीयूष

कथावाचक भगवान् श्रीराम

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

भगवान् श्रीराम के समान कथावाचक मिलना मुश्किल है। कथावाचक जैसे एक वाक्य को लेकर अनेक प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है, वैसे ही भगवान् राम ने अपने वनगमन की चार व्याख्याएँ रख दीं। फल चार प्रकार के कहे गये हैं--धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। भगवान् ने बतलाया कि वनगमन से उन्हें चारों फलों की

अनायास ही प्राप्ति हो जायगी। कैसे ? जब प्रभु कैकेयीजी को प्रणाम कर कौसल्या अम्बा के भवन में पहुँचे, तो माँ ने प्रफुल्लित हो कहा--"राघवेन्द्र, आज वह मंगलमय घड़ी है, जिसकी प्रतीक्षा अयोध्यावासी करते आ रहे हैं। आज ही तो तुम्हारे पिताजी तुम्हें युवराज-पद पर अभिषिक्त करेंगे।" प्रभु बोले--"माँ, तुम्हें पता नहीं, पिताजी ने मुझे युवराज नहीं, राजा बनाने का निर्णय लिया है ?" कौसल्याजी आश्चर्यचकित हो जाती हैं--"क्या महाराज राज्य छोड़ रहे हैं ?"

--"नहीं, यहाँ का राज्य तो पिताजी ही चलाएँगे।"

--"तो फिर ?"

--"पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू (२/५२/६)--पिताजी ने मुझे जंगल का राज्य दिया है। कितना महान् लाभ हुआ है मुझे ! कहाँ मैं युवराज बननेवाला था और कहाँ राजा बन गया ! तुम्हें तो आनन्दित होना चाहिए कि तुम्हारा पुत्र राजा बन गया।"

कौसल्याजी घबरा जाती हैं--कहीं जंगल का भी कोई राज होता है ? प्रभु कहते हैं--"बस, माँ, ऐसे ही गलत ढंग से तो लोग आज तक सोचते आये हैं। पिताजी ने ही ठीक सोचा है। आज तक लोगों की धारणा थी कि राज्य केवल नगरों में होता है। परन्तु राज्य की जितनी आवश्यकता नगर में है, उससे कहीं अधिक वन में है। और--

जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू। २/५२/६

——वहीं तो मेरा यथार्थ काम है। जहाँ अन्याय है, उच्छृंखलता है, राक्षसों का अत्याचार है, वहीं तो राजा की आवश्यकता है। पिताजी का निर्णय अत्युत्तम रहा। तुम प्रसन्न होओ और——

आयसु देहि मुदित मन माता।
जेहिं मुद मंगल कानन जाता॥ २/५२/७

——प्रसन्न मन से मुझे वन जाने की आज्ञा दो, जिससे मेरी वन की यात्रा आनन्दपूर्ण हो।"

भगवान् ने अपने वनगमन की अर्थमूलक व्याख्या रख दी। और जब सुमन्त्रजी को बिदा करने लगे, तो सुमन्त्रजी चरणों में गिर पड़े। प्रभु से प्रार्थना करने लगे——प्रभो, आपके पिताजी ने आज्ञा दी है कि——

रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गएँ दिन चारि॥ २/८१

——रथ में बिठाकर, जंगल में चार-पाँच दिन घुमा वापस ले आना। अतः आप वापस चलिए।

अब यहाँ पर फिर से धर्म और धर्मसार वाली बात आ जाती है। यदि भगवान् राम पिता के भक्त हैं, तो उन्हें उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। और इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि वे महान् पितृभक्त हैं। मानस में बार बार यह बात ध्वनित हुई है——

अनुचित उचित विचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥ २/१७४

——जो अनुचित और उचित का विचार त्याग पिता के वचनों का पालन करते हैं, वे यहाँ सुख और सुयश प्राप्त

कर स्वर्ग में निवास करते हैं। फिर, भगवान् राम को तो पिता ने स्वयं अपने मुख से वन जाने की आज्ञा नहीं दी; इसके विपरीत उन्होंने मंत्री से कहलाया कि उन्हें चार दिन वन में घुमा-फिराकर वापस ले आना। अतः प्रभु को तो पिता की आज्ञा माननी चाहिए। यदि यह भी मान लें कि स्वयं पिता ने उन्हें १४ वर्षों के लिए वन जाने की आज्ञा दी, तो बाद में जब उन्होंने स्वयं इसमें परिवर्तन कर श्रीराम को चार दिन में वापस आने के लिए कहा, तो निस्सन्देह इस दूसरी आज्ञा का महत्त्व अधिक है। पितृभक्त के नाते प्रभु को उनका कहना मानना चाहिए। पर प्रभु नहीं मानते। वे पहली ही आज्ञा को मानते हैं, दूसरी को नहीं। क्यों? इसलिए कि उनके सामने यह महत्त्वपूर्ण नहीं कि पिता की आज्ञा क्या है, किन्तु महत्त्व इस बात का है कि 'पितु बैन' क्या हैं, अर्थात् वास्तव में पिता के बोल क्या हैं। जब कागज में लिखा-पढ़ी होती है, तो लिखनेवाले के लिए इतना ही यथेष्ट नहीं कि वह कागज पर करारनामा लिख दे और हस्ताक्षर कर दे। उसे यह भी लिखना पड़ता है कि जो कुछ वह लिख रहा है, पूरे होश-हवास में लिख रहा है, किसी दबाब या नशे की स्थिति में नहीं। यदि कोई दबाव या नशे की हालत में लिखे, तो उसका कोई महत्त्व नहीं रहता। भगवान् राम से जब यह कहा गया कि शास्त्रों ने पिता की आज्ञा मानने के लिए कहा है, तो प्रभु बोले—"मैं तो पिता की आज्ञा का ही पालन

कर रहा हूँ, इसीलिए चौदह वर्षों के लिए वन जा रहा हूँ।"

सुमन्त्रजी ने कहा--"किन्तु महाराज ने तो आपको चार दिन में लौट आने को कहा है।"

भगवान् बोले--"नहीं, नहीं, वह पिताजी की आज्ञा नहीं।"

--"तो फिर वह क्या है ?"

--"वह उनकी ममता की आज्ञा है। मैं पिताजी की आज्ञा मानूँगा, उनकी ममता की नहीं।"

यही भगवान् राम का सुदृढ़ निर्णय है। यदि कोई मोहाविष्ट हो, कामाविष्ट अथवा लोभाविष्ट हो, तो उसकी आज्ञा का पालन करना पागलपन है। भगवान् राम समझ गये कि पिताजी मोह में पड़ गये हैं, अतः उनकी आज्ञा का पालन उचित नहीं। उन्होंने धर्म उसी को माना, जिसमें स्वार्थ का त्याग हो, सत्य की प्रतिष्ठा हो। जहाँ भी उन्हें स्वार्थ और मोह की झलक मिली, उसे त्याग दिया। इसीलिए सुमन्त्रजी से वे और पूछ लेते हैं--"पिताजी ने आपसे यह तो कहा कि चार दिन में वन घुमाकर वापस ले आना। क्या उन्होंने कुछ और कहा ?"

--"हाँ महाराज, कहा था।"

--"क्या ?"

--"यही कि--

जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई।
सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥
तो तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी।

फेरिअ प्रभु मिथिलेस किसोरी ।। २/८१/१-२
—यदि धैर्यवान् दोनों भाई न लौटें, दृढ़व्रती और सत्य-संकल्प रघुराई न लौटें, तो उनसे हाथ जोड़ प्रार्थना करना कि प्रभो, कम से कम सीताजी को तो लौटा दीजिए।"

प्रभु ने मुस्कराकर कहा—"देखा आपने! पिताजी भी समझते थे कि मैं इसे स्वीकार नहीं करूँगा, क्योंकि यह सत्य के प्रतिकूल है। स्वयं उनकी आत्मा ने कह दिया कि यह उनकी ममता की आवाज है, सत्य की नहीं।"

और प्रभु ने यहाँ अपनी व्याख्या बदल दी। कौसल्या जी के समक्ष उन्होंने अर्थमूलक व्याख्या की थी, पर यहाँ सुमन्त्रजी के सामने वे धर्ममूलक व्याख्या करते हैं। वे उनसे कहते हैं—"प्रधानमंत्री जी, आप सोचिए तो, मुझे कैसा अनुपम सुअवसर प्राप्त हुआ है—

सिबि दधीच हरिचंद नरेसा।
सहे धरम हित कोटि कलेसा।।
रंतिदेव बलि भूप सजाना।
धरमु धरेउ सहि संकर नाना।।
धरमु न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुरान बखाना।।
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा।
तजें तिहूँ पुर अपजसु छावा।।२/९४/३-६

—'जिस धर्म के लिए शिबि, दधीचि तथा हरिश्चन्द्र ने करोड़ों कष्ट सहे, जिसे संकट और आपदाएँ सहकर भी रन्तिदेव और बलि पकड़े रहे, उसी सत्य को, जिसके समान

दूसरा धर्म नहीं, तथा जिसके त्याग से तीनों लोकों में अपयश छा जाता है, मैंने सहज ही पा लिया है।' क्या आप चाहेंगे कि मैं ऐसे सुअवसर को छोड़ दूँ ?"

और जब प्रभु वाल्मीकिजी से मिले, तो उन्होंने वहाँ धर्म की एक तीसरी व्याख्या रख दी। उन्होंने वाल्मीकिजी से कहा—"यहाँ आने से मेरा महान् कल्याण हुआ है।"

—"कैसे ?"

—"तात बचन पुनि मातु हित—पिता की आज्ञा का पालन हुआ और माता का हित हुआ।"

—"पर तुमने केवल दो व्यक्तियों का सुख देखा और लाखों व्यक्तियों की इच्छा को, जो तुम्हें राजा के रूप में पाना चाहते थे, ठुकरा दिया।"

—"नहीं महाराज, ऐसी बात नहीं। प्रजा को ऐसा योग्य राजा मिल गया, जिसके सामने मेरी कोई गणना नहीं—

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ। २/१२५

—भरत है वह राजा। प्रजा एक बार भरत के राज को देख लेगी, तो फिर मेरी याद ही नहीं करेगी।"

—"ठीक है कि प्रजा को राजा मिल गया, तुम्हारे पिता के सत्य की रक्षा हो गयी, माता का हित हो गया, पर इन सबके लिए तुम्हें तो त्याग करना पड़ा, कष्ट उठाना पड़ा। वन को आना हुआ। तुम्हें क्या लाभ हुआ?"

—"महाराज, इस बटवारे में तो मैं ही सबके अधिक लाभ में रहा। इन लोगों को तो छोटी छोटी चीजें ही मिली और मुझे तो बड़ी वस्तु मिली।"

—"कैसे ?"

—"सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि—

मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ ॥ २/१२५

—आप जैसे सन्त के दर्शन हुए। यह मेरे महान् पुण्य का ही प्रभाव है। और फिर शास्त्रों ने तो कहा ही है कि—

बड़े भाग पाइब सतसंगा।
बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा ॥ ७/३२/८

—बड़े भाग्य से सत्संग की प्राप्ति होती है। और वह यदि हो जाय, तो बिना किसी परिश्रम के मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। तो मुनिवर, आपके सत्संग से मुझे मोक्ष भी प्राप्त हो गया।"

इस प्रकार भगवान् राम ने मोक्षमूलक व्याख्या प्रस्तुत कर दी। बस, अब एक व्याख्या और शेष रह गयी, उसे प्रभु ने भरतजी के सामने प्रकट किया। जब भरतजी चित्रकूट पहुँचे, तो उन्होंने भगवान् श्रीराम और जानकीजी को वेदी पर बैठे देखा। उन्हें लगा कि—

बलकल बसन जटिल तनु स्यामा।
जनु मुनिबेष कीन्ह रति कामा ॥ २/२३८/७

—रति और कामदेव ही मुनि के रूप में वल्कल और जटा धारण किये विराजमान हैं।

जब मैंने पहली बार यह पंक्ति पढ़ी, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह कैसी बात है! अगर कोई संसारी व्यक्ति श्रीजानकीजी और भगवान् राम को रति और काम के रूप में देखे, तो चल भी सकता है, किन्तु श्रीभरत

भगवान् राम को कामदेव के रूप में देखें, यह तो आश्चर्य की बात है। उनके लिए सार्थकता तो तब होती, जब वे उन दोनों को भक्ति और वैराग्य के रूप में देखते। पर दूसरे ही क्षण यह बात ध्यान में आ गयी कि भगवान् ने भरतजी को ऐसा दर्शन जानबूझकर दिया। प्रभु जानते थे कि भरत महान् पीड़ा से व्यथित हैं। उनके मन में सतत यह विचार कष्ट दे रहा है कि—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं।
करि मुनि बेष फिरहिं बन बनही।। २/२१०/८

—प्रभु बिना जूते के सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ जंगलों में मुनि का वेश धारण किये भटक रहे होंगे। उनकी इस व्यथा को दूर करने के लिए भगवान् ने उन्हें दिखला दिया कि भरत, तुम ऐसा न समझो कि मैं मुनिवेश में यहाँ तपस्या करने आया हूँ, वन में भटकने आया हूँ; मैं तो यहाँ आनन्द उठाने आया हूँ। देखो, मैं कितनी उन्मुक्तता और स्वच्छन्दता से विचरण कर रहा हूँ। अयोध्या में तो मर्यादा थी, बन्धन था, वह स्वतंत्रता नहीं थी, जो मुझे यहाँ प्राप्त है; वह उन्मुक्त श्रृंगार नहीं था, जिसका आनन्द मैं यहाँ उठा रहा हूँ।

एक मार्मिक पंक्ति आती है, जिसकी बड़ी मधुर व्याख्या जानकीजी ने की। वनगमन के समय प्रभु ने किशोरीजी से कहा कि तुम्हें वन में बड़ा कष्ट होगा, तुम बड़ी सुकुमार हो, तुम वन को न जाओ। जानकीजी ने कहा—"नाथ, आज आपके बारे में सुनी दो बातें भूल

निकलीं।"

—"कौन कौन सी ?"

—"एक तो यह कि आप कभी कठोर नहीं बोलते और दूसरी यह कि आप असत्यभाषी नहीं हैं। ये दोनों बातें आज असत्य सिद्ध हो गयीं।"

—"कैसे ?"

—"आपने मुझे सुकुमार कहा। यह सुनकर ही मैं समझ गयी कि आप कितना कठोर और असत्य बोल सकते हैं। भला बताइए—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू।। २/६६/८

—मैं सुकुमारी हूँ और आप वन के योग्य हैं ? आपके लिए तपस्या उचित है और मेरे लिए विषयभोग ? ऐसी निर्मम वाणी आप बोलते हैं ! क्या आप सुकुमार नहीं ? और यदि आप सुकुमार होकर तप कर सकते हैं तो मैं क्यों नहीं कर सकती ? आपने मुझे सुकुमार कहकर मेरा अनादर किया। जो सुकुमारता मनुष्य को कर्तव्य से विरत करे, धर्मविमुख करे, वह प्रशंसनीय नहीं, हेय है। और फिर मुझे सुकुमार कहकर आपने असत्य भाषण भी कर दिया। यदि मैं सचमुच में सुकुमार होती, तो—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।। २/६७

—आपके ऐसे कठोर वचनों को सुन मेरा हृदय कब का फट जाना चाहिए था, पर वह तो हुआ नहीं। अब आपका भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि मैं सुकुमार नहीं।

मैं वन के दुख को सह लूँगी। इतना ही नहीं, वन में मुझे अथाह सुख मिलेगा जिस समय वन में चलते हुए--

श्रम कन सहित स्याम तनु देखें।
कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें॥ २/६६/४

--श्रमकणों से युक्त आपके श्याम तनु को निहारूँगी, तो फिर दुख करने के लिए अवकाश ही कहाँ मिलेगा? हृदय आनन्द से उत्फुल्ल हो उठेगा।"

यह बड़ी अटपटी बात मालूम होती है--कोई किसी से कहे कि जब मैं आपको थका देखूँ, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी! पर भगवान् राम समझ गये कि जानकीजी के इस छोटे से वाक्य में गहरा अर्थ समाया हुआ है। 'श्रम कन सहित स्याम तनु देखें' में एक संकेत निहित है, जो हमें बालकाण्ड के उस प्रसंग में ले जाता है, जब श्रीजानकीजी ने भगवान् राम के प्रथम दर्शन किये--

लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥ १।२३२

--उसी समय दोनों भाई लतामण्डप से प्रकट हुए, मानो दो निर्मल चन्द्र बादलों की परत हटाकर निकल पड़े हों।' और उनका स्वरूप कैसा था?--

भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए। १।२३२।३

--उस समय उनके माथे पर श्रमबिन्दु शोभायमान थे। जानकीजी ने कहा, "प्रभो, जब पहली बार मैंने आपके श्रमविन्दु देखे, तो उसके बाद फिर से वैसा देखने को तरस गयी। अयोध्या में वैसा कभी दिखायी ही नहीं

पड़ा। अब आप जब वन को चलेंगे, तो पुनः वह रूप देखने को मिलेगा। फिर मुझे वन, वन नहीं लगेगा। मुझे तो पुष्पवाटिका की ही याद आएगी और मुझे वही सुख मिलेगा, जो पुष्पवाटिका में मिला था। आप कहते हैं मुझे कष्ट होगा, पर मुझे तो वहाँ अयोध्या और जनकपुर, दोनों का ही सुख प्राप्त होगा।"

—"कैसे ?"

—"प्रभो, अयोध्या में सास-ससुर हैं, जनकपुर में प्रिय परिवार हैं। वैसे ही यहाँ भी—

परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा।
प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा।।
सासु ससुर सम मुनितिय मुनिबर।
असनु अमिअ सम कंद मूल फर।।
नाथ साथ साँथरी सुहाई।
मयन सयन सय सम सुखदायी।।२।१३९।५-७

—मुनि और मुनि-पत्नियों का दर्शन कर मुझे सास-ससुर की अनुभूति होगी। कुरंगों और विहंगों को देख जनकपुर के परिवार का सा आनन्द मिलेगा।"

—"पर कहाँ तुम्हारी जनकपुर की सखियाँ और कहाँ ये कुरंग-विहंग! इन दोनों की कहीं तुलना हो सकती है ?"

—"नाथ, ये कुरंग और विहंग जितने प्रिय हैं, उतनी जनकपुर की सखियाँ नहीं।"

—"भला क्यों ?"

—"प्रभो, जिस समय मैंने पुष्पवाटिका में आपका पहला

दर्शन पाया था, ये सखियाँ घर की याद करने लगीं। और एक मन ही मन हँसकर मुझसे कहने लगी--

पुनि आउब एहि बेरिआँ काली।
अस कहि मन बिहसी एक आली॥ १।२३३।६

—चलो, बड़ी देर हो गयी। अब चलें। कल इसी समय फिर आएँगे। यह सुन मुझे बड़ा दुख हुआ कि ये सखियाँ मुझे आपके दर्शनों से वंचित रखना चाह रही हैं। उस समय इन हरिणों और पक्षियों ने मेरी बड़ी सहायता की थी।"

--"कैसे?"

—"मैं मुड़कर देखने लगी। सखियों ने कहा--अब और क्या देखना बाकी है? मैंने हरिणों और पक्षियों की ओर संकेत किया और इस प्रकार—

देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥१।२३४

—मृग और पक्षियों को देखने के बहाने मैंने मुड़-मुड़कर आपके दर्शन प्राप्त किये थे। अब आप ही बताइए कि ये सखियाँ प्रिय होंगी, जो आपके दर्शनों से वंचित करती हैं, अथवा ये कुरंग-विहंग प्रिय होंगे, जिनके आसरे आपके दर्शन होते हैं?"

और जब भरतजी चित्रकूट पहुँचे, तो उसकी भूमिका प्रभु ने पहले से ही बना ली थी। प्रभु जब वन में चल रहे थे, तो उनके पैरों में कांटा लगा। प्रभु पृथ्वी पर रुष्ट नहीं हुए, उल्टे प्रसन्न हुए और साथ ही उन्होंने पृथ्वी से

एक अनुरोध यह किया कि हे पृथ्वी, मेरे पैरों में काँटा लगा तो लगा, अब इतनी कृपा करना कि जब भरत आये, तो उसके पैरों को काँटा न चुभे। पृथ्वी ने चकित हो पूछा--"प्रभो, भरतजी क्या आपकी अपेक्षा अधिक सुकुमार हैं ? वे तो परम सन्त हैं और सन्त तो स्वभाव से ही सहिष्णु होते हैं। जब आपके सुकोमल चरण काँटों को सह लेते हैं, तब तो भरतजी को कोई कष्ट नहीं होना चाहिए।"

प्रभु बोले--"पृथ्वी, तुम समझीं नहीं। भरत के चरणों में यदि काँटा लग गया, तो अनर्थ हो जायगा। उसे इतना अपार कष्ट होगा, जिसकी तुम्हें कल्पना नहीं हो सकती।"

--"कैसे ?"

--"काँटा चुभने पर भरत को यह सोचकर कष्ट नहीं होगा कि उसके पैरों में काँटा चुभ गया, बल्कि उसे अपार कष्ट तो यह सोचकर होगा कि हमारे प्रभु इसी मार्ग से गये हैं और उनके भी चरणों में काँटे चुभे होंगे। और इस कल्पना से उसका हृदय विदीर्ण हो जायगा। पर यदि तुम कोमल हो जाओगी, तो उसे यह सन्तोष होगा कि प्रभु को मार्ग में कोई कष्ट नहीं हुआ होगा। भरत अपने दुख से दुखित होनेवाले व्यक्ति नहीं। वे तो सन्त हैं और कवियों ने कहा है कि सन्त का हृदय नवनीत के समान होता है--

संत हृदय नवनीत समाना।
कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥

निज परिताप द्रवइ नवनीता ।
पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ।। ७।१२४।७-८

—पर कवि सही बात नहीं कह सके, क्योंकि मक्खन तो स्वयं को ताप मिलने पर पिघलता है, जबकि पवित्र सन्त-जन दूसरों के दुख से पिघल जाते हैं ।"

और भरतजी जब चित्रकूट पहुँचे, तो देखा—

जनु मुनिबेष कीन्ह रति कामा ।

—मानो रति और कामदेव ही मुनियों का रूप धरे विराजमान हैं। इस प्रकार प्रभु ने अपने वनगमन की काममूलक व्याख्या भी पूरी कर दी । उन्होंने यह बतला दिया कि किस प्रकार उनके वनवास में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–चारों फलों की प्राप्ति है। यही प्रभु की आनन्द प्राप्त करने की दृष्टि है । और वह आनन्द ऐसा है, जो किसी पर आश्रित नहीं, जो स्वतंत्र और परिपूर्ण है। प्रभु के बारे में तो कहा ही गया है न कि—

रामु सहज आनंद निधानू । २/४०/५

—राम सहज आनन्द के निधान हैं। प्रभु ने धर्म की ऐसी व्याख्या की, जिसमें सब ओर से आनन्द ही आनन्द है, रस ही रस है। और इस प्रकार प्रभु ने धर्म का एक नया ही रूप प्रस्तुत किया। वे अपूर्व कथावाचक जो हैं। उन्होंने बतला दिया कि धर्म द्वारा प्रदत्त अधिकार के त्याग में जो आनन्द है, वह धर्म के नाम पर पाये जाने वाले अधिकार की प्राप्ति में नहीं ।

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) सब जाति एक समाना

एक बार गौतमबुद्ध के पास अस्सलायन नामक एक व्यक्ति आया और उसने उनसे प्रश्न किया कि सबसे श्रेष्ठ जाति कौन सी है ? इस पर बुद्ध देव बोले, "कोई भी जाति सर्वश्रेष्ठ नहीं। सभी जातियाँ समान रूप से पवित्र हैं।" अस्सलायन को बात जँची नहीं। वह बोला, "ऐसा कैसे हो सकता है ?"

तब गौतम बोले, "ब्राह्मणों की स्त्रियों को दूसरी जाति की स्त्रियों के समान प्रसववेदना होती है या नहीं?" अस्सलायन ने उत्तर दिया, "हाँ, होती है।" गौतम ने आगे पूछा, "यदि कोई ब्राह्मण चोर, लुच्चा, झूठा, लम्पट, लोभी, दुष्ट तथा द्रोही हो, तो क्या वह दूसरी जातिवाले पुरुषों की तरह दुःख और कष्ट में जन्म न लेगा ?" अस्सलायन ने इसे भी स्वीकार किया। वह बोला, "अच्छे बुरे कर्मों के फल भोगते समय जाति आड़े नहीं आ सकती।"

गौतम आगे बोले, "यदि किसी घोड़ी और गधे का संयोग हो, तो उसकी सन्तान खच्चर होगी, मगर क्षत्रिय और ब्राह्मणों के संयोग से जो सन्तान होगी, वह अपने माँ-बाप की तरह ही होगी। इस कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय में कोई भेद नहीं। यही बात वैश्य और शूद्रों के सम्बन्ध में भी है।" और इस मार्मिक उत्तर से अस्सलायन सन्तुष्ट हो गया।

(२) होनहार बिरवान के

गुरु नानक को बचपन में जब शाला में दाखिल किया गया, तो एक दिन उनके पण्डितजी ने पाया कि अन्य बच्चे तो अपना पाठ पढ़ रहे हैं, किन्तु बालक नानक चुपचाप बैठे हुए हैं। उन्होंने डाँटते हुए पाठ याद न करने का कारण पूछा। बालक नानक ने उत्तर दिया, "मैं तो वह पाठ याद कर रहा हूँ, जिसके बाद कोई दूसरा पाठ याद करने को न रहे।"

"क्या मतलब ?"--पण्डितजी ने पूछा।

"मतलब यह कि तोते के समान जो भी रटता है, उसे प्रभु का सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं होता।"

"मगर तुम तो एक अक्षर भी पढ़ते नहीं ?"

"इस अक्षर को (अर्थात् परमात्मा को) पढ़ता ही कौन है ? यदि एक अक्षर का ज्ञान सबको हो जाय, तो निश्चय ही जन्म और मृत्यु में कोई अन्तर न रहेगा; और मैं इस एक अक्षर को ही पढ़ने का प्रयत्न कर रहा हूँ।"

"मगर संसार में दूसरी बातें भी तो हैं पढ़ने की ? भला लिखकर बताओ तो, तुम्हें क्या क्या आता है ?"

और बालक नानक आँखें मूँदकर बुदबुदाते हुए बोले, "हे मनरूपी लेखक ! मोह-ममता को फूँककर त्यागरूपी स्याही से बुद्धिरूपी कागज पर प्रेमरूपी कलम से सत्-असत् का विचार लिख। उस प्रभु का नाम लिख, जो आधार है सब प्राणियों का और संसार का। यदि ऐसा लिखना आ गया, तो जहाँ भी लेखा (हिसाब) माँगा गया, वहीं

वह सही सिद्ध होगा।"

और पण्डितजी तुरन्त उनके पिता कल्याणराय के पास गये और उन्होंने साफ साफ कह दिया, "यह लड़का पढ़ने नहीं, मुझे पढ़ाने आता है !"

(३) जाको राखे साइयाँ

महाराष्ट्र-सन्त राँका कुम्हार ने नित्य की नाईं पहले दिन तैयार किये घड़ों को आवें पर रखा, किन्तु एक घड़े में रात्रि को उनकी पालतू बिल्ली ने बच्चे जने थे और इस बात से राँका अनभिज्ञ थे। दोपहर को जब बिल्ली वहाँ आयी, तो उस आवें के चारों ओर घूम-घूमकर चिल्लाने लगी। राँका जान गये कि किसी घड़े में इसके बच्चे होंगे और इस कारण यह विलाप कर रही है। उन्हें बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और स्वयं पर हत्या का पाप लगेगा, यह सोचकर जोर जोर से रोने लगे। वे दुःख के मारे लोटने लगे और भगवान् का स्मरण कर बोले, "हे विट्ठल ! जब तक इन बच्चों को जीवन-दान नहीं दोगे, तब तक मुझे चैन नहीं आयगा। जब तुम लाक्षागृह में पाण्डवों की रक्षा कर सकते हो, गजेन्द्र को मगर के चंगुल से मुक्त कर सकते हो, प्रह्लाद को अग्नि से बचा सकते हो, तो निश्चय ही इन अबोध बच्चों की भी रक्षा कर सकते हो। मुझे यह जानकर दुःख हो रहा है कि तुमने मुझे क्यों पता न चलने दिया कि घड़े में बच्चे भी थे।" उनकी पत्नी को जब बात मालूम हुई, तो वह भी उनके साथ क्रन्दन करने लगी। 'तीन दिन तक वे दोनों इस

प्रकार विलाप करते रहे और भगवान् का स्मरण करते रहे। आवाँ बुझने पर जब उन्होंने घड़ा बाहर निकाला, तो उन्हें यह देख आश्चर्य हुआ कि जिस घड़े में वे बच्चे थे, उसे तनिक भी आँच नहीं पहुँची थी। अन्य कुम्हारों ने भी जान लिया कि यह भगवान् की कृपा का फल है। राँका की पत्नी ने पति को बताया कि भगवान् ने उसकी मनौती स्वीकार की है और इसी कारण बच्चे जीवित रहे। मनौती के बारे में राँका द्वारा पूछे जाने पर वह बोली कि उसने मनौती की थी कि यदि बच्चे जीवित निकलेंगे, तो वह अपनी सारी चीजें ब्राह्मणों को लुटा देगी। "तब तो तुम्हारी मनौती का ही यह फल है," यह कहकर राँका ने अपनी सारी चीजों को ब्राह्मणों को देकर भिक्षा द्वारा जीवन बसर करना शुरू किया।

(४) सच्ची भक्ति

एक बार सूफी सन्त शिबली अपने हाथों में एक जलता हुआ अंगारा और जलती लकड़ियाँ लेकर सड़क से जा रहे थे। लोगों ने देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा, "यह क्या माजरा है?" वे बोले, "इस अंगारे से खान-ए-काबे को जलाने जा रहा हूँ।" यह सुन लोगों को बड़ा गुस्सा आया कि यह खुदा के घर को, जो कि दुनिया भर के लोगों का ज़ियारत (तीर्थस्थान) है, मुसलमान होकर भी जलाने की बात करता है। वे उन्हें जब भला-बुरा कहने लगे, तो वे बोले, "मैं चाहता हूँ कि लोग सीधे खुदा की ओर चलें। काबा के बजाय लोग साहबे-

काबा (खुदा) की तरफ मुत्तवज्जह (आकृष्ट) हों।" लोग इस उत्तर से सन्तुष्ट हो गये। फिर एक ने पूछा, "इन लकड़ियों को आपने हाथ में क्यों रखा है?" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं इन लकड़ियों से जन्नत (स्वर्ग) और दोज़ख (नर्क) दोनों को जलाना चाहता हूँ, जिससे लोग बिना किसी सबब के अल्लाह की इबादत करें।" लोगों को बात जँच गयी कि निष्काम, निर्भयता और निर्लोभिता वाली भक्ति ही सच्ची भक्ति होती है, मगर लोग तो नर्क के डर एवं स्वर्ग के लोभ से खुदा की इबादत करना चाहते हैं।

(५) सच्चा साधु कौन ?

सन्त फ्रांसिस अपने शिष्य लियो के साथ सेंट मेरिनो जा रहे थे। राह में आंधी-वर्षा आयी। वे भीग गये। रात हो गयी थी और दिन भर की थकान के कारण उन्हें भूख सताने लगी। गांव अब भी दूर था और आधी रात के पहले वहाँ पहुँचना सम्भव नहीं था। तभी फ्रांसिस ने प्रश्न किया, "लियो, भला बताओ तो सच्चा साधु कौन है?" लियो के चुप रहने पर वे बोले, "जो अन्धों को उनकी आँखें दे सकता है, जो बीमार व्यक्तियों को बीमारी से मुक्त कर सकता है और जो मृत व्यक्तियों को जिला सकता है, वह सच्चा साधु नहीं है।" थोड़ा चुप रहकर वे आगे बोले, "लियो, सच्चा साधु वह भी नहीं है, जो पशुओं, पौधों और निर्जीव पत्थरों की भाषा समझ ले। सारे जगत् का ज्ञान जिसको उपलब्ध हो, वह भी सच्चा

साधु नहीं है।" वे दोनों अँधेरे में आँधी और पानी में आगे बढ़ते रहे। दो क्षण बाद वे बोले, "और वह भी सच्चा साधु नहीं है, जिसने अपना सब कुछ त्याग दिया है।"

लियो से न रहा गया, उसने पूछा, "फिर सच्चा साधु है कौन?" सन्त फ्रांसिस बोले, "अब हम सेंट मेरिनो पहुँचनेवाले हैं। सराय के द्वार को जब हम खटखटाएँगे, तो द्वारपाल पूछेगा, 'कौन हो?' और तब हम यह कहें कि 'तुम्हारे दो भाई—दो साधु,' और यदि वह कहे 'यहाँ भिखमंगों, भिखारियों, मुफ्तखोरों के लिए कोई स्थान नहीं है,' तो हम आधी रात में, भूखे और कीचड़ से सने शरीर में बाहर ही खड़े रहें और उसकी बात अनसुनी कर फिर से द्वार खटखटाएँ और इससे वह द्वारपाल गुस्से में आकर डण्डे से हम पर वार करे और कहे, 'बदमाशो, तुम्हें एक बार यहाँ से जाने के लिए कहा, फिर से आधी रात में परेशान कर रहे हो!' फिर भी हम शान्त रहें, क्योंकि हमें द्वारपाल के रूप में प्रभु दिखायी दे, तो यही वास्तविक साधुता है और तभी हम साधुओं की श्रेणी में आ सकते हैं।"

तब लियो के ध्यान में आ गया कि विषम परिस्थितियों में भी सरलता और समानता के भाव लाकर शान्तिपूर्वक सारे दुःख-कष्टों को सहनेवाला ही सच्चा साधु है।

•

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

डिट्रायट में अन्तिम व्याख्यान तथा लेक्चर-ब्यूरो से छुटकारा

११ मार्च को प्रदत्त अपने व्याख्यान से स्वामीजी को स्वयं भी सन्तोष हुआ। दूसरे दिन उन्होंने हेल बहनों को लिखा, "मेरा अन्तिम व्याख्यान मेरे अन्य सब व्याख्यानों से अच्छा था। श्री पामर तो आनन्द-विभोर हो गये थे तथा श्रोतागण मंत्रमुग्ध बैठे रहे। व्याख्यान के समाप्त होने पर ही मैं जान पाया कि मैं कितनी देर तक बोलता रहा। वक्ता को हमेशा श्रोताओं की उद्विग्नता तथा ध्यानाभाव का एहसास हो जाता है।" यह व्याख्यान केवल रोचक ही न था बल्कि उसने जनमानस पर भी एक अमिट प्रभाव डाला था। विभिन्न समाचार-पत्रों ने अपनी टिप्पणियों तथा सम्पादकीय प्रबन्धों में स्वामीजी के इस व्याख्यान का हवाला देते हुए भारत में कार्यरत मिशनरियों को अपने कार्यों का पुनर्मूल्यांकन करने की सलाह दी थी। केवल यही नहीं, स्वामीजी तथा भारत के विरुद्ध किया जानेवाला मिशनरी दुष्प्रचार भी कुछ समय के लिये शान्त पड़ गया।

स्वामीजी ने १९ मार्च को बौद्ध धर्म पर एक व्याख्यान दिया। इसके बाद वे डिट्रायट छोड़कर चले जानेवाले थे, क्योंकि २० मार्च को उन्हें बे सिटी में तथा २२ मार्च को सैगिनो में बोलना था, पर डिट्रायट के मित्र उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं थे। अतः उक्त दोनों स्थानों में अपना

कार्यक्रम समाप्त कर उन्हें पुनः डिट्रायट लौटना पड़ा। २४ मार्च को डिट्रायट के यूनिटेरियन चर्च में उनका भाषण 'भारतीय नारी' विषय पर हुआ। समाचार-पत्रों की राय में यह व्याख्यान अत्यन्त रोचक था। इस विषय पर उन्होंने पहले घरेलू बैठकों में भी विस्तृत चर्चा की थी। अतएव उनके कई मित्रों ने पाया कि बैठकों में वर्णित कई तथ्य उनके इस व्याख्यान में नहीं आ पाये हैं। अतः जनसाधारण के लाभ के लिए उन लोगों ने वे सारी बातें, जो स्वामीजी ने घरेलू बैठकों में कही थीं, ट्रिब्यून के १ अप्रैल १८९४ के अंक में प्रकाशित करवायीं, जिसका संक्षिप्त रूप निम्नलिखित है—

जब स्वामी कानन्दा डिट्रायट में थे, तब उन्होंने अनेक वार्तालापों में भाग लिया था तथा उनमें भारतीय नारियों से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर दिया था। इसी विवरण ने उनके द्वारा एक सार्वजनिक भाषण दिये जाने की पहल की। परन्तु चूँकि वे बिना किसी नोट्स के बोलते हैं, कतिपय बातें जो उनके द्वारा व्यक्तिगत वार्तालाप में कही गयी थीं, उनके सार्वजनिक भाषण में नहीं आ पायीं। इससे उनके मित्रों को थोड़ी निराशा हुई। किन्तु एक महिला श्रोता ने शाम के वार्तालाप में हुई कुछ बातों को कागज पर लिख रखा था, जिन्हें पहली ही बार समाचार-पत्रों में दिया जा रहा है।

उच्च हिमालय के पठार में आर्य सर्वप्रथम आये और वहाँ आज भी ब्राह्मणों की विशुद्ध नस्ल पायी जाती है। वे ऐसे लोग हैं, जिनकी हम पश्चिमवासी केवल कल्पना मात्र कर सकते हैं। विचार, कार्य और क्रिया में पवित्र तथा इतने ईमानदार कि स्वर्ण से भरा थैला यदि सार्वजनिक स्थान में छूट जाय, तो बीस बरस

बाद भी वह सुरक्षित मिल जायगा। वे इतने सुन्दर हैं कि विवेकानन्दा के स्वयं के शब्दों में 'खेतों में किसी लड़की को देखना मानो रुक जाना और चमत्कृत होना कि ईश्वर ऐसी सुन्दर वस्तु की भी रचना कर सकता है!' उनका शरीर सुडौल, आँखें और बाल काले तथा त्वचा का रंग वह, जो चुभी अँगुली से रिसनेवाली रक्त की बूँदें दूध के गिलास में टपककर बना देती हैं। ये शुद्ध नस्ल के हिन्दू हैं, निर्दोष और निष्कलंक।

जहाँ तक उनके सम्पत्ति सम्बन्धी कानून हैं, पत्नी का दहेज पूरी तरह उसकी अपनी सम्पत्ति होता है, वह पति की सम्पत्ति कभी नहीं बनता। वह बिना पति की स्वीकृति के उसे दान कर सकती है, अथवा बेच सकती है। उसे जो भी उपहार प्राप्त होते हैं, यहाँ तक कि पति से भी, वे सब उसी के होते हैं। वह उनका मनचाहा उपयोग कर सकती है।

स्त्री निर्भय होकर बाहर विचरण करती है। जैसा पूर्ण संरक्षण उसे अपने पास के लोगों से मिलता है, वह वैसी ही मुक्त है। हिमालय के घरों में कोई जनाना भाग नहीं होता। वह भारत का एक ऐसा भाग है, जहाँ मिशनरी कभी नहीं पहुँच पाते। इन गाँवों में पहुँचना अत्यन्त कठिन है। ये लोग मुसलमानी प्रभाव से अछूते हैं। यहाँ पहुँचने के लिए थका देनेवाली दुःसाध्य चढ़ाई चढ़नी पड़ती है तथा यहाँ के लोग मुसलमान और ईसाई दोनों के लिए अज्ञात हैं।....

अमेरिकन पुरुषों पर एक कटाक्ष

कानन्दा ने अपनी आँखों में एक आमोदयुक्त चमक के साथ कहा कि अमेरिका के पुरुष उन्हें मनोरंजित करते हैं। वे स्त्रियों की पूजा करने का दावा तो करते हैं, पर इनकी (कानन्दा की) राय में वे केवल यौवन और सौन्दर्य की पूजा करते हैं। वे कभी झुर्रियों और पके बालों से प्यार नहीं करते। वास्तव में कानन्दा

की यह दृढ़ धारणा है कि वृद्धाओं को जला देना अमेरिकन पुरुषों की कभी एक चाल थी, जिसे उन्होंने निस्सन्देह अपने पूर्वजों से प्राप्त किया था। आधुनिक इतिहास इसे 'डाइनों का दाह' कहता है। वह पुरुषवर्ग ही था, जो डाइनों पर दोष लगाता और उन्हें दण्डित करता था और बहुधा स्त्री की वृद्धावस्था ही उसके इस दोष का कारण बनती तथा उसे मृत्युस्थल को ले जाती थी। अतः यह स्पष्ट है कि स्त्रियों को जीवित जला देना केवल हिन्दू-प्रथा ही नहीं है। उन्होंने विचार व्यक्त किया कि यदि यह याद रखा जाय कि ईसाई चर्च ने वृद्धाओं को खम्भे से बाँधकर जीवित जलाया था, तो हिन्दुओं द्वारा विधवाओं के जलाने पर कम संत्रास प्रकट किया जायगा।

जलाये जाने की तुलना

हिन्दू विधवा बहुमूल्य वस्त्रों से सुसज्जित हो, समारोह और संगीत के बीच, मृत्यु-यंत्रणा भोगने जाती थी—अधिकतर यह विश्वास लेकर कि उसका यह कार्य उसके तथा उसके परिवार के लिए स्वर्ग-प्राप्ति का गौरव लायगा। वह शहीद के रूप में पूजी जाती थी तथा उसका नाम परिवार के इतिहास में श्रद्धा के साथ अंकित किया जाता था।

यह प्रथा हमें चाहे जितनी बीभत्स क्यों न प्रतीत हो, पर यह उस ईसाई डायन को जलाने की तुलना में तो कहीं कम भयं-कर है, जिसे पहले ही से अपराधिनी मानकर दम घोटनेवाली कालकोठरी में डाल दिया जाता था, दोष स्वीकार करने के लिए जिसे निर्दयतापूर्वक यंत्रणा दी जाती थी, जिसे कुत्सित सुनवाई-मुकदमे से गुजरना पड़ता था, जिसे खिल्ली उड़ाते हुए लोगों के बीच से खम्भे (जिससे बाँधकर व्यक्ति को जिन्दा जला दिया जाता था) तक घसीटकर लाया जाता था तथा जिसे अपनी यातना के समय दर्शकों द्वारा यह सान्त्वना दी जाती थी कि

उसके शरीर का जलना नरक की उस अनन्त आग का प्रतीकमात्र है, जिसमें उसकी आत्मा इससे भी अधिक यंत्रणा भोगनेवाली है।

माताएँ पवित्र हैं

कानन्दा कहते हैं कि हिन्दू को मातृत्व के आदर्श की उपासना की शिक्षा दी जाती है। माता पत्नी से बढ़कर होती है। माता पवित्र होती है। हिन्दू अपने मन में ईश्वर के प्रति पितृभाव की अपेक्षा मातृभाव का अधिक पोषण करते हैं।

सभी स्त्रियाँ चाहे वे जिस जाति की हों, शारीरिक दण्ड से मुक्त रहती हैं। यदि कोई स्त्री हत्या कर डाले, तो उसकी जान नहीं ली जाती। उसे एक गधे पर पूँछ की ओर मुँह करके बैठाया जाता है। इस प्रकार सड़क पर घुमाते समय डुग्गी पीटनेवाला उसके अपराध को ऊँचे स्वर में कहता चलता है, जिसके बाद वह मुक्त कर दी जाती है। उसका यह तिरस्कार भविष्य के अपराधों की रोकथाम के लिए पर्याप्त दण्ड माना जाता है।

यदि वह प्रायश्चित्त करना चाहे, तो उसके लिए धार्मिक आश्रमों के द्वार खुले हैं, जहाँ वह शुद्ध हो सकती है, अथवा अपनी इच्छानुसार तुरन्त संन्यास-आश्रम में प्रवेश कर सकती है और इस प्रकार एक पवित्र नारी बन सकती है।....

अन्य विचार

एक राजपुत्र भी स्त्री को मार्ग देता है। जब विद्याकांक्षी यूनानी हिन्दुओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करने भारत आये, तो उनके लिए सभी द्वार खुले थे, पर जब मुसलमान अपनी तलवार के साथ और अंग्रेज अपनी गोलियों के साथ आये, तो उनके लिए द्वार बन्द हो गये। ऐसे अतिथियों का स्वागत नहीं हुआ। "जब बाघ आता है," कानन्दा ने सुन्दर शब्दों में कहा, "तब हम लोग उसके चले जाने तक दरवाजा बन्द रखते हैं।"

कानन्दा कहते हैं कि संयुक्त राज्य ने उनके हृदय में भविष्य

की महान् सम्भावनाओं के प्रति आशा का संचार किया है, किन्तु हमारा भविष्य, संसार के भविष्य के ही समान, आज के कानून बनानेवालों पर नहीं, वरन् महिलाओं पर निर्भर करता है। कानन्दा का कहना था, "तुम्हारे देश का उद्धार तुम्हारी महिलाओं पर निर्भर करता है।"

डिट्रायट में स्वामीजी का यह अन्तिम व्याख्यान था। इसके बाद वे डिट्रायट से जो बिदा हुए, तो १८९६ के पूर्व नहीं लौटे। और तब वे वहाँ दो हफ्ते रुके थे। उस समय उन्होंने कुछ व्याख्यान दिये थे तथा कुछ कक्षाएँ ली थीं। उनके साथ उनके परम विश्वासी शिष्य तथा स्टेनो गुडविन भी थे। उन दिनों वे एक होटल में रुके थे, क्योंकि श्रीमती बागली जिनके यहाँ वे डिट्रायट में हमेशा ठहरा करते, उस समय कोलेरेडो में रह रही थीं, जहाँ उनकी कन्या क्षयरोग से आक्रान्त थी। भाषण के लिए होटल का विशाल कक्ष उपयोग में लाया जाता था। पर भीड़ इतनी होती कि कमरा छोटा पड़ जाता। लोग बरामदे तथा सीढ़ियों में भर जाते। अनेकों को वापस लौट जाना पड़ता। उन दिनों वे भगवत्प्रेम में सराबोर थे। यहाँ तक कि उन्हें अपने आप की भी सुध नहीं रहती थी। ऐसा लगता, मानो स्नेहमयी जगज्जननी के दर्शन की व्याकुलता से उनका हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है। वहाँ सर्वसाधारण के लिए उनकी अन्तिम वक्तृता 'टेम्पल बेथ एल' में हुई थी। उसके बारे में श्रीमती फंकी लिखती हैं--"वह रविवार की शाम थी। उस दिन

वहाँ इतनी भीड़ हुई कि लोगों को दुर्घटना की आशंका होने लगी । लोग एक दूसरे से एकदम सटकर बैठे थे । सैकड़ों व्यक्तियों को वापस लौट जाना पड़ा । विवेकानन्द ने अपने विशाल श्रोतावर्ग को मंत्रमुग्ध कर दिया था । व्याख्यान का विषय था--'विश्वधर्म का आदर्श' । उन्होंने अत्यन्त मनोरम तथा पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान दिया । उस रात आचार्यप्रवर को मैंने जैसा देखा, वैसा फिर कभी नहीं देखा । उनके सौन्दर्य में ऐसा कुछ था, जो इस पृथ्वी का न था ।"

यह तो बाद की बात है, जब उनके भगवत्प्रेम का ऐसा स्वरूप लोगों को प्रत्यक्ष देखने को मिला था । पर इस समय भी, डिट्रायट के उनके निवासकाल में, उनका हृदय पूर्ण वैराग्य से प्रदीप्त था । शत-सहस्र लोगों की अभ्यर्थना, आदर और सम्मान उन्हें मोहित नहीं कर सका था । बल्कि उल्टे, नाम-यश से उन्हें बड़ी अरुचि हो गयी थी । संन्यास का चरम आदर्श और त्याग का मूलमंत्र सदैव उनके हृदय में गूँजता रहता । उनकी एकमात्र अभिलाषा यह थी कि मैं लोगों को किस प्रकार इस चरमादर्श की ओर ले जाऊँ और उन्हें पूर्णत्व की प्राप्ति करा दूँ । हेल बहनों को उन्होंने १२ मार्च १८९४ को लिखा था,

"..तुम लोगों से मैं सत्य कह रहा हूँ कि ज्यों ज्यों मुझे लोकप्रियता मिलती जा रहा है तथा बोलने में आसानी होती जा रही है, त्यों त्यों मैं ऊबता जा रहा हूँ।..." उन्हीं को १५ मार्च को पुनः लिखा--"मैं व्याख्यान

देते देते और इस प्रकार के निरर्थक वाद से थक गया हूँ। सैकड़ों प्रकार के मानवीय पशुओं से मिलते मिलते मेरा मन अशान्त हो गया है। मैं तुम लोगों को अपनी रुचि की बात बतलाता हूँ——मैं लिख नहीं सकता, मैं बोल नहीं सकता, परन्तु मैं गम्भीर विचार कर सकता हूँ और जब जोश में आता हूँ, तो वाणी से आग निकाल सकता हूँ। परन्तु यह सब कुछ चुने हुए—केवल थोड़े से चुने हुए लोगों के सामने ही होना चाहिए। वे यदि चाहें, तो मेरे विचारों को ले जाकर प्रसारित कर दें——परन्तु मैं स्वयं यह नहीं कर सकता। यह तो श्रम का समुचित विभाजन है। एक ही आदमी सोचने में और अपने विचारों का प्रसार करने में सफल नहीं हो सकता। मनुष्य को चिन्तन के लिए मुक्त होना चाहिए, विशेषतः जबकि विचार आध्यात्मिक हों।..

"मैं वास्तव में 'तूफ़ानी' कतई नहीं हूँ, बल्कि इससे बहुत दूर हूँ। जिस वस्तु को मैं चाहता हूँ, वह यहाँ नहीं है, और मैं इस तूफ़ानी वातावरण को और अधिक काल तक सहन करने में असमर्थ हूँ। पूर्णता का मार्ग यह है कि स्वयं पूर्ण बनने का प्रयत्न करना तथा थोड़े से स्त्री-पुरुषों को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करना। भलाई करने का मेरा अर्थ यह है कि कुछ असाधारण योग्यता के मनुष्यों का विकास करूँ, न कि भैंस के आगे बीन बजाकर समय, स्वास्थ्य और शक्ति का अपव्यय करूँ।"

और यही एक प्रमुख कारण था कि स्वामीजी भाषण-कम्पनी से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहते थे।

भाषण-कम्पनी ने उन्हें प्रदर्शन की वस्तु बना रखा था, और जहाँ-तहाँ उनके भाषणों का आयोजन कर पैसा कमाना ही उसका अभीष्ट था। महज उत्सुकतावश इकट्ठे हुए सब प्रकार के 'मानवीय पशुओं' के समक्ष अपने विचार रखना स्वामीजी के स्वभाव के प्रतिकूल था, और इसीलिए वे भाषण-कम्पनी से छुटकारा पाना चाहते थे। पर यह सहज कार्य न था। वे कम्पनी के साथ तीन वर्षों के लिए अनुबन्धित हो चुके थे और अभी तो केवल चार महीने ही बीते थे। ऐसे आड़े समय में डिट्रायट के उनके प्रभावशाली मित्रगण उनकी सहायता के लिए आगे आये और उन्होंने प्रयास करके स्वामीजी को कम्पनी के चंगुल से निकाल लिया। अवश्य इसमें स्वामीजी को प्रचुर आर्थिक हानि उठानी पड़ी। जो कुछ भी उन्होंने अपने भाषणों से भारत की सहायता हेतु अर्जित किया था, वह सारा का सारा भाषण-कम्पनी को दे देना पड़ा।

भाषण-कम्पनी को त्यागने का दूसरा कारण था—स्वामीजी के पारिश्रमिक को लेकर कम्पनी की धोखा-धड़ी। स्वामीजी संन्यास के नियम के प्रतिकूल अर्थोपार्जन के लिए इसलिए प्रस्तुत हुए थे कि उसके द्वारा वे अपने देश का कल्याण करना चाहते थे। इसके लिए उन्हें भाषण-कम्पनी एक अच्छा माध्यम प्रतीत हुई थी। अपने स्वास्थ्य की तनिक भी परवाह न करते हुए वे जी-जान से भाषण-कार्य में लग गये थे। पर बाद में उन्होंने देखा

कि भाषण-कम्पनी उनकी सज्जनता का बड़ा अनुचित लाभ उठा रही है, भाषणों से प्राप्त धनराशि का अत्यल्प भाग ही उन्हें मिल पा रहा है और शेष सारा का सारा कम्पनी उदरस्थ किये जा रही है। ऐसा अनुचित व्यवहार उनके बर्दाश्त के बाहर था। ११ जुलाई १८९४ को उन्होंने आलासिंगा को लिखा था, "डिट्रायट के भाषण में मुझे ९०० डालर अर्थात् २७०० रुपये मिले। दूसरे भाषणों में से एक में मैंने एक घण्टे में २५०० डालर अर्थात् ७५०० रुपये कमाये, परन्तु मुझे सिर्फ २०० डालर ही मिलें। एक दगाबाज भाषण-कम्पनी ने मुझे धोखा दे दिया। अब मैंने उसका साथ छोड़ दिया है।"

यद्यपि स्वामीजी ने भाषण-कम्पनी का साथ छोड़ दिया, तथापि भारत के लिए धन-संचय के प्रति वे उदासीन न रहे और अपने स्वतंत्र प्रयास द्वारा इस कार्य में लगे रहे। इसके लिए उन्हें किसी से अयाचित दान प्राप्त हुआ हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। केवल डिट्रायट के श्री फिअर ने उन्हें २०० डालर अर्थात् ६०० रुपये दिये थे। बाकी जो भी राशि स्वामीजी ने एकत्रित की थी, वह स्व-अर्जित थी।

(क्रमशः)

✽

सुख-मीमांसा

स्वामी बलरामानन्द, रामकृष्ण मिशन

सुख प्राणिमात्र के नित्य अनुभव का विषय है। यद्यपि पशुओं में सुख शारीरिक और मानसिक स्तरों तक ही सीमित है, तथापि मानवों में वह बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्तरों पर भी पाया जाता है। सुख की मात्रा सब प्राणियों में समान भले ही हो, पर सुख के साधन और प्रकार मानवजाति में अधिक परिमाण में उपलब्ध हैं। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सुख की तीव्रता भी मानव-जीवन में विशेषरूप से पायी जाती है। मनुष्य-जाति में सुख ने एक जटिल किन्तु विशिष्ट स्थान प्राप्त कर रखा है।

सुख-स्पृहा :– सुख की स्पृहा से प्रेरित होकर ही मनुष्य इच्छानुसार कार्य करने में प्रवृत्त होता है।† तपस्वी की कठोर तपस्या, भक्तों का भजन-पूजन, पण्डितों का शास्त्राध्ययन, विषयी लोगों की विषयासक्ति, वैज्ञानिकों का शोध, बालकों की क्रीड़ा, संगीत-प्रेमियों का संगीतोन्माद, चोरों का चौर्यकर्म—इन समस्त कार्यों के मूल में वही सुख-स्पृहा विद्यमान है।

सुख-प्रेरणा (Pleasure-drive) :– पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक इसी को pleasure-drive (सुख-प्रेरणा) कहते हैं। भारतीय मनीषियों के समान वे भी कहते हैं कि यह सुख-

---

† तुलना करें, "आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानिचित्।"
—योग-वासिष्ठ, ६/१०८/२०

प्रेरणा ही सबको हर कार्य में प्रवृत्त करती है।† उनके सिद्धान्त के अनुसार जो जो सुख-भोग विशिष्ट समाज में निषिद्ध माने जाते हैं, उन सुखों को प्राप्त करने की मानव में जो अतृप्त सुख-प्रेरणा रहती है, वह मन के अवचेतन स्तर में पूरी शक्ति के साथ, पिटारे में स्थित साँप के समान, अपना सिर ऊपर उठाने के लिए व्याकुल होकर वास करती है। इसी को वे Libido अर्थात् कामोत्तेजना कहते हैं। यह सुख-स्पृहा कभी कभी विकृत रूप में व्यक्त हुआ करती है। यह शक्ति यदि किसी कारण व्यक्त न हो पायी, तो उस व्यक्ति-विशेष की मस्तिष्क-विकृति का कारण बन जाती है। इसीलिए वे लोग ऐसे विकृत-मस्तिष्क एवं हताश व्यक्ति को उस शक्तिमान् स्पृहा के विरेचन (catharsis) का अथवा उसे उदात्त (sublimate) करने का उपदेश देते हैं। आजकल लिबिडो, कैथार्सिस, आदि नाम सुनने से ही सभ्य व्यक्ति नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। परन्तु ऐसा करने का वस्तुतः कोई कारण नहीं, क्योंकि यह कामोत्तेजना मात्र यौन-विषयक ही नहीं हुआ करती। विशिष्ट समाज में निषिद्ध कोई भी अतृप्त भोग-वासना मन के इस 'इद' (Id) विभाग में स्थान पा सकती है।

सुख के अन्य प्रकार :–

स्वप्नानन्द :– मनुष्य के जाग्रत् जीवन में जो निषिद्ध

---

† Wegner M.A., Jones F.N. & M.H., Physiological Psychology, P. 336

वासनाएँ इस प्रकार अतृप्त रह जाती हैं, वे कभी कभी स्वप्नावस्था में अपने अस्तित्व का आभास दिया करती हैं; किन्तु सीधे रूप में नहीं, बल्कि समाज-भय के संस्कारों के कारण दबकर कुछ विकृत रूप में। स्वप्नावस्था में अतृप्त सदिच्छाओं की भी अभिव्यक्ति हुआ करती है। ऐसा स्वप्न-सुख प्रत्येक व्यक्ति नित्य अनुभव करता है।

सुषुप्ति-सुख :– जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था के सुख की तुलना में सुषुप्ति अथवा गहरी निद्रा का सुख कुछ भिन्न प्रकार का होता है। यह सुख सब लोग नित्य ही अनुभव करते हैं। इस अवस्था में भोग्य-भोक्तारूप प्रपंच नाममात्र को भी नहीं रहता। इस सुख में तनिक भी चित्तोद्वेग नहीं होता। वहाँ मात्र एक शान्त एवं गहरे सुख का बोध ही बना रहता है। इस अवस्था में इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी अपने अपने कारणों में कुछ समय के लिए विलीन हो जाते हैं। उस स्थिति में प्राणी सूक्ष्म अज्ञानवृत्ति के माध्यम से आत्मा का आनन्द अनुभव किया करता है।

भजनानन्द :– इसके सिवा, अखिल विश्व के साधक साधन-भजन में अथवा इष्ट-दर्शन में जो सुख पाते हैं, वह सुषुप्ति से भी उच्च प्रकार का है। इसे 'भजनानन्द' कहते हैं। इस सुख का अंशमात्र पाने से संसार के सारे विषय-सुख चिता-भस्म के समान तुच्छ हो जाते हैं। यही नहीं, ऐसा साधक मुक्ति का परम सुख भी नहीं चाहता।

वह 'चीनी होना नहीं चाहता, बल्कि चीनी खाना चाहता' है। इसी को गौड़पाद 'रसास्वाद' कहते हैं और भक्त लोग 'भावसमाधि का सुख' कहकर पुकारते हैं।

ब्रह्मानन्द :– इससे भी जो ऊँची स्थिति है, जिसे सुख की चरम अवस्था अथवा परम सुख कहते हैं, वह है 'ब्रह्मानन्द'। यह साधक के स्व-स्वरूप का सुख है। आचार्य शंकर कहते हैं, "स्वयं को सच्चिदानन्द-स्वरूप जान लेने पर ही (मनुष्य) वास्तव में आनन्दी होता है।"† यह सुख शाश्वत होता है और इसमें दुःख की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। यह निर्विकल्प-समाधि का सुख है। इसमें अन्य सुखों की नाईं ज्वार-भाटा या उदयास्त नहीं होता।

तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली में‡ मनुष्य, गन्धर्व, पितर, देव, इन्द्र, ब्रह्मा आदि के आनन्द के विषय में कहकर अन्त में इस ब्रह्मानन्द को ही सबसे ऊँचा आनन्द कहा गया है।

भारतीय तत्त्व-चिन्तकों की सुख-विषयक धारणाएँ :–

चार्वाक-मत :– चार्वाक अथवा चार्वाक-तुल्य लोग स्थूल विषयों के सुखों को ही निरतिशय सुख मानते हैं। 'अंगनालिंगनाज्जन्यसुखमेव पुमर्थता।'* वे स्वर्ग-सुख या मोक्ष-सुख में विश्वास नहीं करते। प्रत्येक समाज में अधिकांश लोग ऐसी ही धारणा का पोषण करते हुए

---

† विवेकचूड़ामणि, १५२

‡ वहीं, ८

* सर्वदर्शनसंग्रहः, चार्वाक दर्शन

जीवन बिताते हैं। सुख को वे देह और इन्द्रियों का धर्म कहते हैं। उनके लिए विषय-सुख ही 'ब्रह्मानन्दसहोदर' है।

न्याय-मत :– परन्तु तार्किक लोग इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार जो कुछ मनुष्य की इच्छा के अनुकूल होता है, उसे सुख कहा जाता है। किसी के लिए शत्रु का नाश भी सुखदायक हो सकता है। वे सुख को आत्मा का धर्म मानते हैं।

वैशेषिक-मत :– वैशेषिकों के अनुसार, सुख 'अनुग्रह-लक्षण' है। "आत्मा-इन्द्रिय-मन और विषय के एक साथ आने पर सुख या दुःख होता है।"† अनुकूल भोग्य विषयों का ग्रहण करने से तथा आत्मा और मन के संयोग के कारण जो नयनादि इन्द्रियों की प्रसन्नता एवं प्रेम की अनुभूति होती है, वही सुख है। यह सुख विषयों के स्मरण मात्र से, संकल्प से तथा शमदमादि साधनों से प्राप्त हो सकता है। वह आत्मा का ही प्रसाद है। 'अनुग्रह' शब्द का अर्थ 'ग्रहण' एवं 'प्रसाद' होने के कारण वैशेषिकों की दृष्टि में सुख विषय-ग्रहण और आत्म-प्रसाद पर निर्भर है।

दुःखाभाव ही सुख :– बहुत से प्राच्य तथा पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक दुःख के अभाव को ही सुख मानते हैं। परन्तु गौतमीय न्याय के अनुसार तो संसार की प्रत्येक वस्तु में दुःख ही भरा है, उसमें सुख का लवलेश भी नहीं। वे कहते हैं कि यदि सांसारिक वस्तुओं में सुख होता, तो संसार के सारे साधक उन सबको छोड़कर भगवान्-लाभ

---

† वैशेषिक सूत्र, ५/२/४५

या मोक्ष के लिए प्रयत्न क्यों करते ? किन्तु जयन्त भट्ट, श्रीधर आदि मनीषी इस सिद्धान्त को नहीं मानते, क्योंकि इससे आत्म-सुख के अनुभव का विरोध होता है।

सांख्य-मत :– सांख्यवादी सुख को आत्मा का धर्म नहीं मानते। उनके सिद्धान्त के अनुसार, वह सत्त्वगुण का धर्म है। अन्तःकरण में सत्त्वगुण का उद्रेक होने से सुख की अनुभूति होती है। इस उद्रेक का कारण है उस व्यक्ति का अदृष्ट या कर्म। वे कहते हैं कि प्रत्येक बाह्य विषय भी त्रिगुणात्मक है। अतः वह सुख, दुःख, और मोहात्मक है। सत्त्वगुण से सुख, रजोगुण से दुःख तथा तमोगुण से मोह हुआ करता है।† इसीलिए एक ही स्त्री पति के सुख, सौत के दुःख तथा पर-पुरुष के मोह का कारण हो सकती है।‡ उनके मतानुसार, प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में तथा भोग्य-विषयों में सत्त्वगुण होने के कारण ही सुख का उद्रेक हो सकता है; किन्तु सुख कभी भी शाश्वत नहीं हो सकता।

योगमत :– योगशास्त्र के अनुसार, सुख अन्तःकरण का धर्म है और व्यक्ति का पुण्यकर्म ही सुख का कारण है। 'भोग्य-विषय के सान्निध्य में इन्द्रियों को जो तात्कालिक तृप्ति या आराम मिलता है, उसे वे सुख कहते हैं।'* वे भी शाश्वत सुख को नहीं मानते। निश्चित एवं स्थायी दुःख-

† सांख्यकारिका, गौड़पादाचार्यकृत भाष्य, १२

‡ मधुसूदनकृत, भक्तिरसायन – १/१६-१७

* पातंजल-योगसूत्र, व्यास-भाष्य, २/१५

निवृत्ति ही उनकी साधनाओं का लक्ष्य है ।

जैन तथा बौद्धमत :– जैन तथा बौद्धमतों के अनुसार विज्ञान और सुख दोनों स्वसंवेद्य होने के कारण अभिन्न हैं । उनका कारण और विषय दोनों एक ही हैं ।

प्राभाकर तार्किक मत :– प्राभाकर तार्किक मतावलम्बी दुःख के अभाव को सुख नहीं मानते । वे कहते हैं कि सुख आत्मा और मन के संयोग के कारण हुआ करता है । अतः वह 'संयुक्तसमवाय लक्षण' है । वे आत्मा को आनन्दस्वरूप नहीं मानते ।

भाट्ट मत :– कुमारिल भट्ट के मतानुसार, सुख मन के अस्तित्व पर निर्भर करता है । वे यद्यपि सांसारिक सुख को दुःख-मिश्रित, स्वर्गीय सुख को दुःखरहित तथा मोक्ष-सुख को नित्य सुख कहकर विश्वास करते हैं, तथापि स्वर्ग-सुख को ही सर्वसाध्य समझकर कर्मकाण्ड को उसका उपायस्वरूप मानते हैं ।

वेदान्त मत :– वेदान्तवादी आत्मा को सुखस्वरूप मानते हैं । "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"†, "यो वै भूमा तत्सुखं"‡, इत्यादि श्रुतियों से आत्मा का सुखस्वरूपत्व तथा चित्स्व-रूपत्व स्पष्ट होता है । उनके मतानुसार, पुण्यकर्म के फलित होने के कारण अनुकूल विषय प्राप्त होते हैं । इन विषयों के सान्निध्य में अन्तःकरण में सुख का जो उद्रेक होता है, वह इसी सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा के

† बृहदारण्यक उपनिषद्, ३/९/२८

‡ छान्दोग्य उपनिषद् ७/१३/१

कारण।† आत्मा का सुख ही अन्तःकरण की सात्त्विक वृत्ति में प्रतिबिम्बित हुआ करता है। वास्तव में, ब्रह्म-सुख शाश्वत एवं दुःखरहित है; किन्तु अन्तःकरण की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों के कारण मनुष्य दुःख तथा मोह को प्राप्त होता है। "यह आत्म-रस पाकर ही प्राणिमात्र आनन्दित होता है।"* उनके अनुसार, स्वयं परम सुखस्वरूप होने के कारण आत्मा ही एकमात्र परमप्रिय वस्तु हो सकती है।

सुख की प्रक्रिया :– वे कहते हैं कि यह विषय-सुख प्रारब्ध-कर्म के अधीन होने के कारण शाश्वत नहीं है। उनके सिद्धान्त के अनुसार, सुख प्रारब्धाधीन होने के कारण मनुष्य में प्रथम विषय-तृष्णा का उदय होता है, जिससे वह दुःख का अनुभव करता है। पुण्यकर्म का फलोदय होने पर भोग्य विषय के प्राप्त होने से उस दुःख का तात्कालिक उपशम होता है। इस उपशम के कारण अन्तःकरण में सत्त्व-प्रधानता आती है, जिससे चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। चित्त की इस अवस्था में आत्मा प्रतिबिम्बित होती है और वह व्यक्ति तात्कालिक सुख का अनुभव करता है। विषय-सुख इसी प्रकार हुआ करता है।

सुख के प्रकार :– वेदान्तियों के अनुसार, विषयानन्द के तीन प्रकार हैं—प्रिय, मोद और प्रमोद, जो कि विषयों के दर्शन, लाभ तथा संभोग पर निर्भर हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के अनुसार भी सुख तीन प्रकार

† बृहदारण्यक उपनिषद्, ४/३/३२
* तैत्तिरीय उपनिषद्, २/७

का है। स्वप्नावस्था में जाग्रत्कालीन वासनाओं की तृप्ति तथा सात्त्विक चित्तवृत्ति में आत्मा के प्रतिबिम्बित होने के कारण ही सुख हुआ करता है। परन्तु सुषुप्ति में वह कारण-शरीरस्थ सूक्ष्म अज्ञानवृत्तियों में आत्मा के प्रति-बिम्ब के कारण होता है। सुषुप्ति में न विषय होते हैं, न जाग्रत्कालीन वासनाओं की तृप्ति। अतएव सुषुप्ति-सुख जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था के सुखों से भिन्न तथा विशेष प्रकार का है। किन्तु यह सुख भी शाश्वत नहीं है। अतः वेदान्तवादी 'स्व-स्वरूप-आनन्द-व्याप्ति' को ही विवेकी मनुष्य के जीवन का लक्ष्य मानते हैं।

(अगले अंक में समाप्य)

लघुकथा

प्रेम की प्रतिकृति

डा० प्रणव कुमार बनर्जी

उसके हाथों प्रतिकृतियाँ बहुत बनीं, पर "प्रेम" की न बन सकी। उसने साधना की, किन्तु वह सफल न हो सका। जीवन के अन्तिम दिन उसकी आँखें भर आयीं।

पराजय के अवगुण्ठन में से किसी ने अचानक झाँक-कर उसकी ओर देखा—"क्यों रोता है?"

"प्रेम की प्रतिकृति इतने दिनों में भी न बना सका।"

"प्रेम ईश्वर है"—झाँकती हुई आकृति ने कहा, "क्या सर्वव्यापी ईश्वर की प्रतिकृति बनाना इतना सरल है?"

अनुभूति ने एक नयी दिशा दी। नयी गतिशीलता उत्पन्न हुई। जीवन के अभी दो क्षण बाकी थे। कलाकार ने अन्तिम प्रयास किया। जब उसने तूलिका उठायी, तो रंग के कटोरे में उसके दो बूँद आँसू टपक पड़े। उस आँसू-भरे रंग में तूलिका डुबोकर जैसे ही उसने कैनवास को रँगने की कोशिश की कि मृत्यु ने एकाएक उसे दबोच लिया। तब तक वह जो कुछ बना पाया था, वह केवल एक रंगीन धब्बा मात्र ही था।

परन्तु वह धब्बा प्रेम की ही प्रतिकृति था।

*

पुनर्जन्म

(गीताध्याय २, श्लोक २२)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

अपने पिछले दो प्रवचनों में हमने डार्विन के विकासवाद की पृष्ठभूमि में हिन्दू विकासवाद पर विचार किया और यह देखने का प्रयास किया कि हिन्दुओं की विकास सम्बन्धी धारणा किस प्रकार पूरी तरह वैज्ञानिक है। हमने यह भी देखा कि आज जीव-विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दुओं के विकासवाद की गूँज को सुना जा सकता है। अब आइए, आज गीता के दूसरे अध्याय के इस बाईसवें श्लोक के अर्थ पर विचार करते हुए पुनर्जन्म की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करें।

भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा के नवदेह-ग्रहण की प्रक्रिया को वस्त्र बदलने की उपमा देते हुए कहते हैं कि जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर अन्य नये कपड़े पहन लेता है, वैसे ही यह देही आत्मा भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों में प्रवेश कर जाता है। हम अपने २१वें प्रवचन में कह चुके हैं कि यहाँ पर भगवान् के कथन का तात्पर्य केवल सहजता से है, अर्थात् जिस सहजता से हम अपने फटे-पुराने कपड़ों को त्यागकर नया वस्त्र पहन लेते हैं, उसी सहजता से देह का स्वामी यह देही भी जीर्ण शरीर को त्यागकर नया ग्रहण कर लेता है।

कुछ लोग प्रश्न कर सकते हैं कि शरीर की जीर्णता का क्या तात्पर्य ? अनेक बार बच्चा पैदा हुआ कि मर जाता है। किशोरों और तरुणों को मृत्यु के मुख में जाते देखना आम बात है। शिशु, किशोर या तरुण के शरीर को तो जीर्ण नहीं कहा जा सकता। एक हट्टा-कट्टा नवजवान अचानक मृत्यु का ग्रास बन जाता है। सामान्य परिभाषाओं में हम उसके शरीर को जीर्ण नहीं कह सकते। तब भगवान् यह जो कहते हैं कि देही जीर्ण शरीर का त्याग कर देता है, उसका अर्थ फिर क्या हुआ ? यहाँ पर शरीर की जीर्णता से तात्पर्य है उस प्रारब्ध-कर्म की जीर्णता से, जो इस शरीर के जन्म का कारण होता है।

कर्म के तीन प्रकार होते हैं— (१) संचित, (२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। हम पिछले प्रवचनों में यह विचार कर चुके हैं कि पूर्वजन्म और कर्मसिद्धान्त किस प्रकार वैज्ञानिक हैं। हमने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनों प्रमाणों द्वारा उक्त सिद्धान्तों के पोषण का प्रयास किया है। तो, हम जो भी कर्म करते हैं, वह सूक्ष्म रूप धारण कर अन्तःकरण में संस्कार के रूप में बना रहता है। कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता। सामान्य से सामान्य कर्म भी संस्कार के रूप में अवशिष्ट रह जाता है। यह कर्म-संस्कार कर्म के बाहरी रूप के अनुसार नहीं बनता, वह तो कर्म के पीछे की भावना के अनुसार बना करता है। उदाहरणार्थ, शल्य-चिकित्सक (सर्जन) की मेज पर छुरी पड़ी है। एक डाकू अचानक घुस आता है और उस

छुरी से एक का हाथ काट लेता है तथा उसके पास जो भी पैसा है, उसे लूट लेता है। कुछ समय बाद वहाँ एक मरीज आता है, जिसके हाथ में विषाक्त व्रण हो गया है और उसके प्राण बचाने के लिए सर्जन उसी छुरी से उसका हाथ काट देता है। अब ऊपर की दृष्टि से देखें, तो ये दोनों कर्म समान दिखते हैं। दोनों ही दशाओं में एक ही छुरी के द्वारा हाथ काट दिया जाता है। तो क्या दोनों का फल भी एक होगा ? नहीं। पहले व्यक्ति को--डाकू को दण्ड मिलेगा, जबकि सर्जन को पुरस्कार। यह जो फल का अन्तर हुआ, उसका कारण क्या है ? कर्मों के पीछे भावना का अन्तर। डाकू के कर्म के पीछे व्यक्ति के प्राण हरने की भावना है, जबकि सर्जन के कर्म में व्यक्ति को बचाने की। पहला दुःख देना चाहता है और दूसरा सुख। बस, कर्म के पीछे की भावना ही कर्म-संस्कार को जन्म दिया करती है। कोई व्यक्ति अपने को चालाक समझकर दुनिया के सभी लोगों को छल सकता है, पर अपने आपको नहीं छल सकता। ऊपर से वह कोई ऐसी क्रिया कर सकता है, जो निःस्वार्थ दिखती हो, पर उसका अन्तःकरण ठीक जानता है कि क्रिया के पीछे कौनसी भावना कार्य कर रही है। हमारा यह मनोयंत्र इतना sensitive (सूक्ष्म) और precise (खरा) है कि तनिक सा स्पन्दन भी उसमें recorded (अंकित) हो जाता है। हम भले ही कभी कभी अपने को भी छलने की कोशिश करें, पर वास्तव में हम कभी भी स्वयं को नहीं छल पाएँगे।

कालेज के दिनों में मेरा एक मित्र था, जो हमारे एक दूसरे मित्र के घर अक्सर जाया करता था। इस दूसरे मित्र के पिता का देहान्त हो गया था। घर पर उसकी माँ, एक बहिन और उससे बड़े-छोटे चार-पाँच भाई थे। यह पहला मित्र यह कहकर दूसरे के घर जाता कि उसके यहाँ का बाजार आदि का कुछ काम कर दिया करता है। मैंने एक दिन उससे कहा भी था कि अकारण बार-बार दूसरे के घर जाना ठीक नहीं लगता। पर उसने उत्तर दिया कि उसके घर के और भाई तो कुछ काम कर देते नहीं, मुझी को बाजार-सौदा कर देना पड़ता है; उसकी माँ भी मेरा रास्ता देखती रहती है। मैं चुप हो गया। एक दिन वही हुआ, जिसकी आशंका थी। इस पहले मित्र को विवश होकर दूसरे मित्र की बहिन से विवाह करना ही पड़ गया। बाद में यह मित्र मुझसे कहता था, "तुम ठीक कहते थे। मेरे मन में उसके घर जाने का जो आकर्षण था, उसे तुमने ठीक पहचाना था। मैं भी कभी कभी महसूस करता था कि मैं गलती कर रहा हूँ, पर मन को समझा देता था कि मैं तो उनकी सेवा करने जा रहा हूँ। पर मन स्वयं अपने छल में भला कभी आ सकता है?" तो, इस प्रसंग को बताने का तात्पर्य यह है कि हम भी इसी प्रकार किसी न किसी तरह से अपने आपको ठगने की कोशिश करते हैं। हमारा विवेक कहता है कि यह कार्य बुरा है, पर मन उसे करने के लिए लालायित रहता है। इस विवेक पर परदा डालने के लिए हम कई प्रकार के बहाने बनाते

हैं। पर इससे क्या सत्य छिप सकता है ? भले ही हम अपने मन को भुलावा देकर कोई अनुचित कर्म कर लें, पर इस कर्म का जो संस्कार-शेष होगा, उसमें हमारी यथार्थ भावना का ही अंकन होगा, दिखाऊ भावना का नहीं।

तो, जैसे कर्मों के संस्कार बना करते हैं, वैसे ही मन में उठनेवाले विचारों के भी संस्कार बनते हैं। अन्तःकरण में जहाँ पर ये सारे संस्कार जाकर इकट्ठा होते हैं, उसे 'चित्त' कहा जाता है। चित्त में जैसे इस जन्म में बननेवाले संस्कार जाकर जमा हो जाते हैं, वैसे ही जन्म-जन्मान्तर में बने संस्कार भी संचित रहते हैं। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति आज मृत्यु के मुख में चला गया। मरने से ठीक पहले उसके चित्त में स्थित संस्कारों का एक प्रबल भाग मानो चित्तरूपी कोष से अलग हो जाता है। यह अलग हुआ संस्कारसमूह ही 'प्रारब्ध' के नाम से परिचित होता है, जो मनुष्य के अगले जन्म का कारण बनता है। चित्त में बाकी जो संस्कारसमूह बचा हुआ है, उसे 'संचित' कहकर पुकारते हैं। 'प्रारब्ध' के द्वारा नया जन्म प्राप्त होने पर उस नये जन्म में जो संस्कार बनते जाते हैं, उनको 'क्रियमाण' कहते हैं। इस प्रकार कर्म-संस्कारों की ये तीन श्रेणियाँ हुईं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। प्रारब्ध से नया शरीर मिलता है और प्रारब्ध के जीर्ण हो जाने पर शरीर की मृत्यु हो जाती है, फिर उस समय शरीर चाहे शैशवावस्था में रहे, किशोरावस्था में या तरुणावस्था में। तो,

विवेच्य श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण जब शरीर के जीर्ण होने की बात करते हैं, तो उसका तात्पर्य हमें यही लेना चाहिए कि प्रारब्ध जीर्ण हो गया। शरीर का नाश प्रारब्ध के जीर्ण होने पर ही होता है। हम यह नहीं जान पाते कि प्रारब्ध जीर्ण कब होगा, इसलिए किसी की मृत्यु कच्ची उम्र में होने पर हम कह दिया करते हैं--'उसकी अकाल मौत हो गयी।' पर तत्त्व की दृष्टि से देखें, तो 'अकाल मृत्यु' नाम की कोई वस्तु नहीं है। जो भी मृत्यु होती है, वह काल में ही होती है। हमें प्रारब्ध का पता नहीं चलता, इसीलिए काल को अकाल कह दिया करते हैं। पाँच वर्ष का कोई स्वस्थ बालक अचानक चल बसा, तो हम उसकी मृत्यु को 'अकाल' का विशेषण लगाएँगे। एक चिकित्सक जब उसके रोग को पकड़ने में समर्थ न होगा, तो कहेगा कि हृदयगति के रुकने से बालक की मृत्यु हुई। पर एक ज्ञानी यह देखेगा कि उसके प्रारब्ध के समाप्त होने के कारण वह चल बसा।

प्रवचनकार लोग इस बात को एक उदाहरण के द्वारा समझाया करते हैं। जैसे एक ग्राहक कपड़ा खरीदने किसी दुकान पर गया और उसने कपड़ा माँगा। दुकान-दार ने अन्दर का एक थान निकालकर उसे नापकर कपड़ा दे दिया। ग्राहक तो यही समझेगा कि कपड़ा नया है। पर यह तो दुकानदार जानता है कि थान बीस वर्ष पुराना है। इसी प्रकार, भले ही संसार के लोगों की दृष्टि में मरनेवाला शरीर नया प्रतीत हो, पर प्रारब्ध को

जानने और संचालित करनेवाला वह परमात्मा ही जानता है कि शरीर कितना जीर्ण हो गया है।

यहाँ पर एक दूसरा प्रश्न उठ सकता है। अच्छा, पुराने कपड़ों को छोड़नें के बाद तव नये वस्त्र पहने जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पुराना शरीर जब छूट जाता है, तब शरीरी आत्मा को नया शरीर मिलता है। पर श्रीमद्भागवत में तो एक भिन्न बात कही गयी है। वहाँ दसवें स्कन्ध के पहले अध्याय में मरणान्तर-गति के लिए जोंक का उदाहरण दिया गया है। कहा है-- 'यथातृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः'--'जैसे जोंक किसी अगले तिनके को पकड़ लेती है, तब पहले के पकड़े हुए तिनके को छोड़ती है, वैसे ही जीव भी अपने कर्म के अनुसार भिन्न भिन्न गतियों को प्राप्त होता है।' बृहदारण्यक उपनिषद् भी (४/४/३) कहता है--'यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वा अन्यम् आक्रमम् आक्रम्य आत्मानम् उपसंहरति एवमेव अयम् आत्मा इदं शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वा अन्यम् आक्रमम् आक्रम्य आत्मानम् उपसंहरति' --'जिस प्रकार जोंक एक तृण के अन्त में पहुँचकर दूसरे तृणरूप आश्रय को पकड़कर अपने को पहले तृण से सिकोड़कर अलग कर लेती है, इसी प्रकार यह आत्मा शरीर के नाश होने के समय अनजान रीति से दूसरी देह का आश्रय करने के पश्चात् पूर्व देह से अपने आपको समेट लेता है।' इस जोंक के उदाहरण से तो ऐसा प्रतीत होता है कि जीव जब नया शरीर प्राप्त कर लेता है, तब

कहीं पहले के शरीर को छोड़ता है, और यहाँ गीता में कहा गया है कि जीर्ण वस्त्र के समान जब पहले शरीर को छोड़ दिया जाता है, तब नये शरीर की प्राप्ति होती है। महाभारत भी अपने शान्तिपर्व के १५ वें अध्याय में कहता है—

यथा हि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥५७॥
देहान् पुराणान् उत्सृज्य नवान् सम्प्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ॥५८॥

—'जैसे मनुष्य बारम्बार नये घरों में प्रवेश करता है, उसी प्रकार जीव भिन्न-भिन्न शरीरों को ग्रहण करता है। पुराने शरीरों को छोड़कर नये शरीरों को अपना लेता है। इसी को तत्त्वदर्शी मनुष्य मृत्यु का मुख बताते हैं।' इन दोनों उदाहरणों में तो विरोधाभास है। वस्त्र और घर का उदाहरण तो समझ में आता है कि एक शरीर छोड़ दिया, तब बाद में दूसरा शरीर मिला। पर जोंक का उदाहरण एक नयी कठिनाई पेश करता है। जोंक को चलने के लिए आगे का भी तिनका चाहिए और पीछे का भी। तो क्या इसका तात्पर्य यह है कि देही को, जीव को मृत्यु से पूर्व ही एक नया शरीर चाहिए? यदि ऐसा हो, तो लाखों-करोड़ों सूक्ष्म शरीर एक साथ तैयार कहाँ मिलेंगे? प्रतिपल भिन्न-भिन्न योनियों के असंख्य शरीर नष्ट हो रहे हैं, तो इन सबके लिए नये शरीर भी पहले से तैयार चाहिए। जोंक के लिए अगला तिनका पहले से विद्यमान है, तो इतने असंख्य जीवों के लिए असंख्य सूक्ष्म शरीर बनाकर

कहाँ पर रखे जायँ ? फिर, स्थूल शरीर तो जीव के गर्भ में प्रवेश करने के बाद ही तैयार होता है। तब उपर्युक्त दोनों दृष्टान्तों की संगति कैसे बिठायी जाय ? शरीरान्तर-प्राप्ति का सही क्रम किसे समझा जाय ?

इस पर आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र पर अपने शारीरक भाष्य में अच्छी तरह विचार किया है। उन्होंने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि शरीरान्तर-ग्रहण न तो देह-त्याग से पूर्व होता है, न वस्त्र की तरह तत्काल ही। वह तो उपनिषदों में वर्णित पंचाग्नि-क्रम से होता है। स्वर्ग, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री ये पाँच अग्नियाँ हैं, जिनमें से होकर जीव को शरीर छोड़ने के उपरान्त जाना पड़ता है, तब कहीं उसे अगला शरीर प्राप्त होता है। स्वर्ग का तात्पर्य है चन्द्रलोक से। चन्द्रमा मन का देवता है। श्रुति कहती है—'चन्द्रमा मनसो जाता'—'चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ है'। इसका अर्थ यह है कि मन का चन्द्रमा से सम्बन्ध सतत बना हुआ है। जब मनुष्य की मृत्यु होती है, तो उसका स्थूल शरीर यहीं नष्ट हो जाता है, पर सूक्ष्म शरीर, जिसे हम साधारणतया मन कहकर अभिहित कर दिया करते हैं, कारण-शरीर के साथ ऊर्ध्वलोक में गमन करता है। इसी को हम 'जीव' कहकर पुकारते हैं। इस मृत्यु-प्रक्रिया की विशद वैज्ञानिक व्याख्या हमने अपने २० वें प्रवचन में की है, जहाँ जीवात्मा और आत्मा का अन्तर भी स्पष्ट किया है। यह जीव ऊर्ध्वलोक से वर्षा के द्वारा पृथ्वी पर पतित होता है और किसी वनस्पति में

समा जाता है। पुरुष के उस वनस्पति के भक्षण करने पर जीव पुरुष में आ जाता है और उसके शुक्र के माध्यम से स्त्री में प्रवेश करता है। स्त्री के गर्भ में पुरुष का वीर्य जब स्त्री के रज से संयुक्त होता है, उसी क्षण जीव को माता के गर्भ में अपने अगले स्थूल शरीर का बीज प्राप्त हो जाता है, जो काल में विकसित होकर प्रसव-मार्ग द्वारा गर्भ से बाहर आता है। गर्भ में इस जीव को पिता के वीर्य से पिता के तथा माता के रज से माता के कुछ शारीरिक और मानसिक संस्कार प्राप्त होते हैं, जिसे हम आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में hereditary transmission (आनुवंशिक क्रम) कहते हैं। जब वह गर्भ से बाहर निकलकर क्रमशः विकास को प्राप्त होता है, तो अपने संस्कारों को लेकर तो बढ़ता ही है, साथ ही उस पर माता और पिता के संस्कारों की भी छाप होती है। माता और पिता के साथ बरसों के घनिष्ठ सम्पर्क से उनकी आदतों की छाप भी बालक पर लग जाया करती है। जीव के द्वारा विशिष्ट माता-पिता का यह जो चुनाव है, वह भी उसके 'प्रारब्ध' के द्वारा ही नियंत्रित होता है। इस प्रारब्ध को हम सामान्य भाषा में 'भाग्य' कह दिया करते हैं। पर 'भाग्य' शब्द से ऐसा कुछ सूचित होता है, जिसमें परवशता हो, जिसमें वैज्ञानिकता नाम की कोई वस्तु न हो। पर ऐसी बात नहीं। प्रारब्ध की यह प्रणाली पूरी तरह वैज्ञानिक है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि कर्मों और विचारों के

संस्कारों से प्रारब्ध बनता है। कर्म और विचार के संस्कारों में जो अन्तर है, वह केवल मात्रा का, तारतम्य का। कल्पना कीजिए, मैं किसी से द्रोह करता हूँ। एक स्थिति यह हो सकती है कि मैं उससे मन ही मन द्रोह करूँ और अपने विचारों को क्रिया में व्यक्त न होने दूँ। ऐसे विचारों का एक संस्कार अन्तःकरण पर पड़ेगा ही, यह तो हम सोच ही सकते हैं। अब मान लीजिए कि मैं उसके प्रति अपने इस द्रोह को क्रिया में भी व्यक्त करता हूँ। यह क्रिया मेरे उस शत्रु से प्रतिक्रिया खींचकर लाएगी, और इसीलिए इस द्रोहात्मक क्रिया का संस्कार केवल वैचारिक द्रोह के संस्कार से अधिक प्रबल होगा। बस, दोनों में यही अन्तर है। संस्कार तो क्रिया और विचार दोनों का पड़ता है।

कर्म की इस संस्कारात्मक शक्ति से कोई बच नहीं सकता। मैं ईश्वर की कल्पना एक विराट् 'कम्प्यूटर' (संगणक यंत्र) के रूप में करता हूँ, जो इतना 'सेंसिटिभ' (सूक्ष्मग्राही) है कि भावना के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्पन्दन को भी चट से अंकित कर लेता है। भगवान् श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि "ईश्वर चींटी के पैर का शब्द भी सुन लेता है।" कम्प्यूटर में हिसाब की कोई गड़बड़ी नहीं होती। भले ही मनुष्य भूल जाये कि बीस वर्ष पहले उसने कौन कौन सी क्रियाएँ की थीं और कौन कौन से विचार सोचे थे, पर यह ईश्वररूपी कम्प्यूटर कुछ भी बिसराता नहीं। वह सारा हिसाब बनाकर हर समय तैयार रखता है। उसमें delay (विलम्ब) या procrastination (दीर्घसूत्रता) नहीं है। वह

हमारे समान कामचोर या टालमटोल करनेवाले स्वभाव का नहीं है। अभी हमने कोई कर्म किया कि उसका संस्कार जाकर चित्त में अंकित हो गया, और इस कम्प्यूटर ने भी तुरत अपना हिसाब जोड़-घटाकर up-to-date (अद्यतन) कर लिया। हमने कोई बुरा कर्म किया या किसी को हानि पहुँचायी, तो उसका भी संस्कार जमा हो गया, और किसी की सेवा-सहायता की, तो वह संस्कार भी चट जमा हो गया! ऐसा विलक्षण है यह कम्प्यूटर। इस ईश्वररूपी कम्प्यूटर का साधारण कम्प्यूटर से केवल इतना ही भेद है कि जहाँ प्रथम चैतन्यस्वरूप है, वहाँ दूसरा मात्र जड़; प्रथम का कार्यक्षेत्र अनन्त और असीम है, जबकि दूसरे का कार्यक्षेत्र सीमित। इस सन्दर्भ में विश्वविख्यात वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन के ईश्वर-सम्बन्धी विचार मनन-योग्य हैं। लिंकन बार्नेट अपनी सुन्दर पुस्तक 'The Universe and Dr. Eeinstein' में आइन्स्टीन के इन विचारों को उद्धृत करते हैं। किसी ने आइन्स्टीन से पूछा था, "ईश्वर के सम्ब्रन्ध में आपकी धारणा क्या है?" उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था--

The most beautiful and profound emotion we can experience is the sensation of the mystical. It is the power of all true science. He to whom this emotion is a stranger, who can no longer wonder and stand wrapt in awe, is as good as dead. To know that what is impenetrable to us really exists, manifesting itself as the highest wisdom and the most radiant beauty which our dull faculties can only comprehend in their primitive forms—this knowledge, this feeling is at the centre of true religiousness...The cosmic religious experience is the strongest and noblest mainspring of scientific research... My religion consists of a humble admiration of the illimitable

superior spirit who reveals himself in the slight details we are able to perceive with our frail and feeble minds. That deeply emotional conviction of the presence of a superior reasoning power, which is revealed in the incomprehensible universe, forms my idea of God.

--"सबसे सुन्दर और उत्कृष्ट जिस संवेग का हम अनुभव कर सकते हैं, वह गूढ़ज्ञान की संवेदना है। वही समूचे खरे विज्ञान की शक्ति है। जिस व्यक्ति के लिए यह संवेग अजाना है, जो अब और विस्मय का अनुभव नहीं कर सकता तथा सम्भ्रम में विमुग्ध हो नहीं खड़ा रह सकता, वह मुर्दे के ही समान है। यह जान लेना कि जो हमारे लिए अभेद्य है, वह वास्तव में अस्तित्वमान है तथा अपने को उच्चतम प्रज्ञा और तेजोमय सौन्दर्य के रूप में प्रकाशित कर रहा है, जिसकी धारणा हमारी मन्द बुद्धिवृत्तियाँ केवल अपने आदिम रूपों में ही कर पाती हैं--यह ज्ञान, यह बोध ही खरी धार्मिकता के मध्य में विद्यमान है...। सार्वभौम धार्मिक अनुभव वैज्ञानिक अनुसन्धान और गवेषणा की सबसे प्रबल और उदात्त उत्प्रेरक शक्ति है...। जो असीम श्रेष्ठ आत्मा अपने को छोटी छोटी बातों में प्रकट करता है--जिन बातों को हम अपने दुर्बल और मन्द मनोयंत्र के द्वारा देखने में समर्थ होते हैं,--उसके प्रति विनयपूर्ण प्रशस्ति का भाव ही मेरा धर्म है। जो श्रेष्ठ तर्कशक्ति अगम्य विश्व में प्रकट है, उसके अस्तित्व में गहरा संवेगात्मक दृढ़ विश्वास ही मेरी ईश्वर-सम्बन्धी धारणा है।"

तो, ऐसे ईश्वररूपी कम्प्यूटर को छला नहीं जा

सकता। उसके हिसाब में रेशे का अन्तर भी नहीं होता। हम ईश्वर को कभी कभी अन्यायी कहकर दोष देते हैं, पर इसका कारण हमारी दृष्टिशक्ति का सीमित होना है। सीमित दृष्टिशक्ति को ही हम दूसरे शब्दों में अज्ञान कहते हैं। अपनी सामर्थ्य और योग्यता का गलत मूल्यांकन भी अज्ञान की सीमा में आता है। तो, हम अल्पदृष्टिसम्पन्न भी हैं और अपनी योग्यता का गलत मूल्यांकन भी करते हैं। इसीलिए हम ईश्वर की धारणा नहीं कर सकते, उस विराट् कम्प्यूटर के निरपेक्ष हिसाव को नहीं समझ सकते। जरा आइन्स्टीन के शब्दों पर मनन कीजिए। वे वैज्ञानिक थे, और इसीलिए ईश्वर सम्बन्धी उनके विचार भी पूर्णतः वैज्ञानिक हैं। यदि हम अपने को विज्ञानवादी कहने का दावा करते हैं, तो थोड़ा रुककर अपनी बुद्धि को टटोलें और आइन्स्टीन के वचनों को समझने की चेष्टा करें।

कोई कह सकता है कि यदि ईश्वर एक कम्प्यूटर है, तो उसकी प्रार्थना करने का क्या अर्थ? कम्प्यूटर तो किसी के प्रति पक्षपात करेगा नहीं। फिर, यह जो भजन-पूजन, हवन-पाठ आदि चलता है, उसकी क्या उपयोगिता? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि भजन-पूजन, प्रार्थना-पाठ इत्यादि क्रियाएँ हमारी भावनाओं को शुद्ध करती हैं और इन शुद्ध भावनाओं के संस्कार कम्प्यूटर में अंकित होकर हमारे हिसाब में जमा हो जाते हैं। जब हम प्रार्थना करते हैं, तो आकाश में बैठा कोई ईश्वर हमारी बात नहीं सुनता; वह तो हमारी अपनी भावना है, जो इस प्रकार

की प्रार्थना से शुद्ध और उदात्त होती है। यह कम्प्यूटर सर्वव्यापी है और प्रत्येक जीव के चित्त में उसकी personal file (व्यक्तिगत मिसिल) है, जिसके अनुसार वह जीव का नियंत्रण करता है। तभी तो भगवान् कृष्ण अर्जुन से गीता में अन्यत्र कहते हैं--

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ॥१८/६१

--'हे अर्जुन ! यंत्र पर आरूढ़ हुए के समान सब भूतों को उनके कर्मों के अनुसार अपनी माया से घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतों के हृदय में वास करता है।'

तो, हम इस प्रश्न का उत्तर दे रहे थे कि शरीरान्तर-ग्रहण में जोंक का उदाहरण सही है अथवा वस्त्र और घर का ? आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र पर अपने शारीरक भाष्य में इस प्रश्न को उठाते हैं और तर्कपूर्ण उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि देही आत्मा--जीव--पंचाग्नि-क्रम से नया शरीर प्राप्त करता है। साथ ही वे जोंक और वस्त्र दोनों के उदाहरण में समन्वय कर देते हैं। उनका वहाँ पर (३/१) एक वाक्य है--'कर्मोपस्थापितप्रतिपत्तव्य-देहविषयभावनादीर्घीभावमात्रं जलूकया उपमीयते'--अर्थात्, 'मृत्यु के समय अगला जन्म प्राप्त कराने के लिए जो प्रारब्ध या प्रधान कर्म अग्रसर होता है, वह आगे प्राप्त होनेवाले शरीर की भावना को उसी समय उपस्थित कर देता है। उस भावना का दीर्घीभाव अर्थात् दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त होने तक उसका बना रहना ही जोंक

की उपमा द्वारा प्रदर्शित हुआ है।'

व्यक्ति का अन्तिम क्षण जब निकट आता है, उस समय वह बाहर के संसार के लिए तो बेहोश रहता है, पर अपने भीतर वह पूरे होश में रहता है। उसके जन्म-जन्मान्तर के सारे संस्कारों की समष्टि उसके मानसपटल पर मानो आकर खड़ी हो जाती है और जो संस्कार प्रबल होते हैं, वे उसके अगले शरीर की भावना उत्पन्न करते हैं। यही प्रबल संस्कारसमूह 'प्रारब्ध' कहलाता है। यह शरीर छोड़नेवाले जीव के सूक्ष्म शरीर को आगे प्राप्त होनेवाले शरीर की अनुरूप-भावना से आक्रान्त करता है तथा उसे तदनुरूप आकार प्रदान करता है। अर्थात्, जीव मरणकाल में अपने शरीर में विद्यमान रहते हुए ही आने-वाले शरीर की भावना से युक्त हो जाता है और फिर उसके बाद शरीर छोड़ता है। इसी को भागवत एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में अगले शरीर का पकड़ना मान-कर जोंक का उदाहरण दिया गया है। जीव के मरणकाल की भावना ही उसके शरीरान्तर-प्राप्ति का कारण बनती है। गीता में ही अन्यत्र कहा गया है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ८/६

—'हे कौन्तेय! मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्त में देह छोड़ता है, सदा उस भाव में युक्त होने के कारण उसी को प्राप्त होता है।' इस प्रकार वस्त्र के उदा-हरण का भी निर्वाह हो गया तथा जोंक के उदाहरण का भी।

इस प्रकार हमने देखा कि मृत्यु के समय मनुष्य के सारे संस्कार उसके मानसपटल पर आकर मानो खड़े हो जाते हैं। उस संस्कारसमूह में जिन संस्कारों की प्रबलता होती है, वे उसके सूक्ष्म शरीर को तदनुरूप आकार प्रदान करते हैं, और उसकी अगली योनि उसी क्षण निश्चित हो जाती है। जो संस्कार प्रबल होकर जीव की अगली योनि को निश्चित करने में कारण बनते हैं, वे 'प्रारब्ध' के नाम से परिचित होते हैं और यह प्रारब्ध ही उसकी अगली योनि का 'सूक्ष्म शरीर' बन जाता है। संस्कारों का अन्य जो विपुल अंश बाकी रहता है, वह 'कारण शरीर' में जमा रहता है। मृत्यु के समय 'सूक्ष्म शरीर' 'कारण शरीर' के साथ इस 'स्थूल शरीर' से बाहर निकल जाता है। वही मृत्यु की अवस्था है। इस प्रकार, 'कारण शरीर' हमारे जन्म-जन्मान्तर के संचित संस्कारों से बनता है। वह वासनामय हुआ करता है। 'सूक्ष्म शरीर' का निर्माण हमारे प्रारब्ध संस्कार करते हैं। 'सूक्ष्म शरीर' और 'कारण शरीर' की युति को 'जीव' कहते हैं। यह जीव अपने प्रारब्ध के अनुसार ऊपर या नीचे जाता है अथवा मध्य में रहता है। प्रारब्ध में यदि सत्त्वगुण की प्रबलता रही, तो मृत्यु के बाद वह स्वर्गादि उच्च लोकों को जाता है; यदि रजोगुण प्रबल हुआ, तो वह मनुष्य-लोक में ही रहता है, अर्थात् मृत्यु के उपरान्त पुनः मनुष्य-योनि में ही पैदा होता है; और यदि तमोगुण का प्राबल्य रहा, तो वह अधोगति को प्राप्त होता है, अर्थात्

कीट-पशु आदि नीच योनियों में जन्म लेता है। गीता में अन्यत्र (१४/१८) कहा भी है--

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

अब यहाँ पर एक प्रश्न और खड़ा होता है। क्या जीव का पीछे की योनि में जाना सम्भव है ? एक बार जिसने मनुष्य-योनि प्राप्त कर ली, वह फिर से क्या नीचे की पशु-कीटादि योनि में जा सकता है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि हाँ, जीव का निम्न योनियों में जाना सम्भव है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस बात को स्वीकार करता है। जैसे जीव अपने पुण्यकर्मों के भोग के लिए स्वर्गादि उच्च लोकों को जाता है, वैसे ही वह अपने पापकर्मों के फलभोग के लिए निम्न योनियों को प्राप्त हुआ करता है। जैसे देवयोनियाँ भोगयोनियाँ हैं, वैसे ही निम्न योनियाँ भी भोगयोनियाँ हैं। एकमात्र मनुष्य की योनि ही कर्मयोनि है, जहाँ मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा अपनी नियति का, अपने भावी जीवन का निर्माण कर सकता है और करता है। मनुष्येतर अन्य सभी योनियाँ मात्र भोगयोनियाँ हैं, जहाँ कोई कर्म नहीं किये जा सकते, जहाँ केवल कर्मों का फलभोग ही किया जा सकता है। तो, जैसे जीव अपने पुण्यकर्मों का फल स्वर्गादि में भोगकर अपने बचे हुए संचित संस्कारों का भोग करने के लिए पुनः मनुष्य-योनि में प्रवेश करता है, वैसे ही निम्न योनियों में अपने पापकर्मों का फल भोगकर वह अपने शेष संचित

संस्कारों के फलस्वरूप पुनः मानव-योनि में आता है, और इस प्रकार जन्मान्तरण का यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक कि वह अपनी दिव्यस्वरूपता को पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं कर लेता। वही पूर्णता की अवस्था है, जिसे आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, निर्विकल्प समाधि, ईश्वर-दर्शन आदि भिन्न भिन्न नामों से पुकारा गया है।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जा सकता है। अच्छा, आपने कहा कि मनुष्य अपने कर्म के अनुसार निम्न योनि में भी जा सकता है। मान लीजिए, कोई मनुष्य अपने प्रारब्धानुसार कुत्ते की योनि पाता है। तो, कुत्ते की योनि से जब वह छूटेगा, तो सीधे मनुष्य की योनि में आ जायगा, या फिर कुत्ते एवं मनुष्य के बीच जितनी योनियाँ हैं, उन सबमें से होकर उसे गुजरना पड़ेगा? इसका उत्तर यह है कि वह कुत्ते की योनि के बाद सीधे ही मनुष्य-योनि में आ जायगा और अपनी पिछली मनुष्य-योनि में जहाँ तक वह पहुँचा था, वहाँ से सूत्र पकड़कर आगे बढ़ चलेगा। राजा भरत की कथा से यह बात पुष्ट होती है। वे अपने द्वारा बचाये गये मृगशावक की आसक्ति में इतना पड़ गये थे कि मृत्यु के समय ईश्वर का चिन्तन वे बिसर गये और उस हरिण के छौने का ही स्मरण करने लगे। फलस्वरूप, उन्हें मृग की योनि में आना पड़ा। अपना कर्मफल मृगयोनि में भोगकर वे पुनः मनुष्य-योनि में चले गये और जड़भरत के नाम से विख्यात हुए। मनुष्य इसी प्रकार अपने तीव्र कर्मों के फल-

भोग के लिए निम्न या उच्च योनियों में जाया करता है। कुछ कुत्ते ऐसे होते हैं, जो बिस्कुट-डबलरोटी खाते हैं; मेम साहब के साथ गुदगुदे बिछौने पर सोते हैं, कार में घूमने जाते हैं, जिनके लिए बड़े-बड़े डाक्टरों का इलाज चला करता है। एक अलसेशियन कुत्ते को मैंने देखा, जो घर में भजन-आरती के समय पास आकर चुप बैठ जाता था। दूसरे समय किसी अजनबी की मजाल नहीं कि घर में पैर रख सके। पर प्रार्थना-भजन आदि के समय कोई भी अपरिचित घर में आये, कुत्ता चुप बैठा रहता था। आखिर ये कुत्ते अपनी जातिवालों से भिन्न तो हुए। यह भिन्नता कहाँ से आयी? रहे होंगे वे पिछले जन्म में मनुष्य। स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक मित्र को गाय की योनि में देखा था। जब स्वामीजी अमेरिका गये हुए थे, तब उस मित्र की मृत्यु हो गयी। अमेरिका से लौटने के बाद जब उन्होंने बेलुड़मठ में रामकृष्ण संघ का प्रधान केन्द्र स्थापित किया और वहाँ स्थायी रूप से रहने लगे, तब वहीं उन्होंने अपने उस दिवंगत मित्र को गाय की योनि में देखा था। इससे सिद्ध होता है कि जीव का पुनर्जन्म निम्न योनियों में भी हुआ करता है। जीव-विज्ञान के क्षेत्र में भी atavism (पूर्वजोद्भव) के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है, जहाँ इस सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया गया है कि जीव में पीछे की ओर जाने की प्रवृत्ति विद्यमान है।

अब इस श्लोक की चर्चा में एक अन्तिम प्रश्न उठता है। अच्छा, यहाँ शरीर के लिए बहुवचन का प्रयोग करते

हुए ऐसा क्यों कहा गया कि--'तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही'--अर्थात्, देही पुराने शरीरों को त्यागकर नये शरीर ग्रहण करता है? देही तो एक ही पुराना शरीर छोड़ता है और एक ही नया शरीर ग्रहण करता है। ऐसा कहने से ही तो हो जाता कि 'तथा शरीरं विहाय जीर्णं नवमेव अन्यं संयाति देही'-- 'देही पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर ग्रहण करता है।' यह बहुवचन का प्रयोग क्यों? इसके उत्तर में कहा जाता है कि बहुत से जन्मों की बात को दृष्टिगत करते हुए शरीर के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इसमें कोई विशेष बात नहीं है। देही असंख्य जन्म लेता है और इसलिए असंख्य पुराने शरीरों को छोड़ता है तथा असंख्य नये शरीरों का ग्रहण करता है।

इस प्रकार हमने तीन प्रवचनों में इस बाईसवें श्लोक के अन्तर्गत पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विस्तार से विचार किया, अब हम अगले प्रवचन में आत्मा की अपरिवर्तनशीलता पर चर्चा करेंगे।

•

महाभारत-मुक्ता

सहै सो चाखै अमिय रस

ब्रह्मचारी सन्तोष

सामान्य जीवन में जब क्रोध का प्रसंग न हो, तब तो हम सभी शान्त और अक्रोधी होते हैं। किन्तु हमारे शान्त और अक्रोधी होने की परीक्षा तो तब होती है, जब

क्रोधित होने का कारण तो हो पर फिर भी हम क्रोधित न हों, हमारे मन की शान्ति भंग न हो। ऐसे प्रसंग ही वे कसौटियाँ हैं, जिन पर हमारा चरित्र कसा जाता है और हम खरे या खोटे उतरते हैं।

एक दिन वैभवशालिनी द्वारवती नगरी में एक ब्राह्मण आया। विचित्र वेश-भूषा, मस्तक पर जटाजूट, लम्बी दाढ़ी और मूछें, क्षीण किन्तु बहुत ऊँचा शरीर, जिस पर चिथड़े लटक रहे थे। एक हाथ में लम्बा दण्ड और दूसरे में कमण्डल। ज्ञान के आलोक से देदीप्यमान मुखमण्डल! अनिकेतन भिक्षाचारी तपस्वी!

विचित्र वेशधारी तपस्वी का व्यवहार भी विचित्र था। वह नगर की सड़कों पर घूम-घूमकर घोषणा कर रहा था—"है कोई, जो मुझ तपस्वी ब्राह्मण को अपने घर सत्कारपूर्वक ठहराये? किन्तु सुन लो! मैं अत्यन्त क्रोधी हूँ। मेरा कोई नियम और दिनचर्या नहीं है। मैं अपनी इच्छानुसार चाहे जब भोजन करता हूँ, या निराहार रहता हूँ; इच्छानुसार जब चाहे शयन करता हूँ या जागता रहता हूँ। मेरे कार्यों में बाधा पड़ने पर या मेरे प्रति किंचित् भी अपराध होने पर मैं अत्यन्त क्रोधित हो उठता हूँ। उस क्रोध में मैं अपराधी का सर्वनाश कर सकता हूँ। अतः जो भी मुझे अपने घर पर ठहराये, उसे सतत सावधान रहकर मेरी सेवा करनी होगी।"

द्वारवती में कई सम्पन्न, उदार और साधुसेवी सज्जन रहा करते थे। किन्तु तपस्वी ब्राह्मण की कठोर शर्तों को

सुनकर किसी का साहस न हुआ कि उसे अपने घर ठहराये।

तब क्या इतनी बड़ी द्वारवती नगरी से एक तपस्वी ब्राह्मण आश्रय के अभाव में निराश होकर लौट जायगा? क्या कोई भी ऐसा पुरुष इस नगर में नहीं है, जो इस ब्राह्मण की कठोर शर्तों को स्वीकार कर उसकी सेवा करने को प्रस्तुत हो ?

ब्राह्मण को निराश न होना पड़ा। एक दिव्य राजपुरुष ब्राह्मण के पास आये और आदरपूर्वक उन्हें प्रणाम कर निवेदन किया, "भगवन् ! आप कृपा कर हमारे घर पधारें और जब तक आपकी इच्छा हो वहाँ रहें। हम सपरिवार आपकी सेवा करने को प्रस्तुत हैं।"

राजपुरुष का निवेदन सुन ब्राह्मण की भृकुटि तन गयी। अन्तर्भेदी दृष्टि से राजपुरुष की ओर घूरते हुए कर्कश स्वर में उसने पूछा, "क्या तुम्हें हमारी शर्तें मालूम हैं ? क्या तुम यह जानते हो कि मेरा तनिक सा अपराध करने पर मैं तुम्हारा या तुम्हारे परिवार का नाश कर सकता हूँ, तुम्हारी सम्पत्ति को भस्म कर सकता हूँ ? और सुनो, मेरी तपस्या का तेज ऐसा है कि मेरे कोप से तुम्हें कोई भी नहीं बचा सकेगा। क्या अब भी तुम मुझे अपने घर अतिथि के रूप में रखने को प्रस्तुत हो ?"

राजपुरुष ने और अधिक नम्र हो निवेदन किया, "भगवन् ! मुझे आपकी शर्तें स्वीकार हैं। आप कृपापूर्वक हमारे भवन में चलिए और वहाँ रहिए।"

तपस्वी ब्राह्मण राजपुरुष के महल में पहुँचे। उन्होंने

बाहर-भीतर से सारा महल देखा और एक सुसज्जित कमरे में रहने की इच्छा प्रकट की। वहाँ उनके रहने की व्यवस्था कर दी गयी।

राजपुरुष ने अपने सेवकों और सम्बन्धियों को आज्ञा दी कि सभी लोग सावधानीपूर्वक तपस्वी ब्राह्मण की सेवा करें, उनकी प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करें तथा उन्हें किसी भी प्रकार क्रोधित होने का अवसर न दें। वे स्वयं भी सपत्नीक सावधान हो ब्राह्मण की सेवा में जुटे रहते।

ब्राह्मण विचित्र स्वभाव के तो थे ही। उन्होंने उस सुसज्जित कमरे को अस्त-व्यस्त कर दिया। साज-सज्जा की सुन्दर सुन्दर वस्तुओं को तोड़-फोड़ डाला। कपड़ों को फाड़ दिया।

सेवकों ने आकर राजपुरुष को ब्राह्मण के कृत्यों की खबर दी। राजपुरुष ने शान्त और गम्भीर वाणी में कहा, "तपस्वी ब्राह्मण जो भी करें, उन्हें करने दिया जाय।"

एक दिन ब्राह्मण ने उस कमरे में आग लगा दी और उसे जलाकर भस्म कर दिया। भवन के स्वामी निर्विकार भाव से उसे देखते रहे। न कोई विरोध! न कोई प्रतिक्रिया!!

ब्राह्मणदेवता किसी दिन महापेटू बनकर सारे परिवार के लिए बना भोजन चट कर जाते, तो कभी निराहार ही रहते। कभी असमय में आकर तुरन्त विभिन्न प्रकार के पकवान माँगते, उनमें से कुछ खाते और कुछ नष्ट कर देते। कभी उन्मत्त की भाँति हँसते और नाचते, तो कभी व्याकुल होकर रोते-बिलखते! अद्भुत था उनका आचरण-व्यवहार।

एक दिन वे राजपुरुष के महल में आये और कहा, "मैं गरम गरम खीर खाऊँगा। तुरत खीर परोसो।"

मनस्वी राजपुरुष ब्राह्मण की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते तथा सभी आवश्यक वस्तुएँ तैयार रखवाते। उन्होंने स्वयं खीर लाकर मुनि को निवेदित किया।

ब्राह्मण ने उसमें से थोड़ी खीर खायी और राजपुरुष से कहा, "तुम यह जूठी खीर अपने सारे शरीर में पोत लो।"

बिना किसी हिचक के राजपुरुष ने वह जूठी खीर अपने सारे शरीर में पोत ली। पास ही खड़ी रानी यह दृश्य देखकर हँस रही थीं। मुनि की दृष्टि उस ओर पड़ी। तुरन्त उनकी भृकुटि तन गयी। उन्होंने राजपुरुष से कड़ककर कहा, "अपनी रानी के सारे शरीर में भी यह जूठी खीर पोत दो।"

निर्विकार भाव से मुनि की आज्ञा का पालन करते हुए उन्होंने अपनी पत्नी के सारे शरीर में भी वह जूठी खीर पोत दी।

क्रोधित मुनि ने रथ लाने की आज्ञा दी। रथ आकर खड़ा हुआ। रथ के आते ही ब्राह्मण ने उसका घोड़ा खोल दिया और उसके स्थान पर खीर में सनी रानी को जोत दिया और स्वयं सारथी के स्थान पर बैठ गये। उन्होंने रानी को आज्ञा दी, "रथ को राजमार्ग पर ले चलो।"

हतप्रभ महारानी बड़ी कठिनाई से रथ खींचती हुई चलीं। थोड़ी ही देर में वे लड़खड़ाने लगीं। इससे मुनि कुपित हो उठे और निर्दयतापूर्वक रानी पर कोड़ों की वर्षा करने लगे। शरीर में जूठी खीर लपेटे राजपुरुष शान्त और निर्विकार भाव से रथ के साथ साथ चल रहे

थे। रानी लड़खड़ाकर भूमि पर गिर पड़ीं। उन्हें गिरता देख मुनि रथ से कूद पड़े और भागने लगे। राजपुरुष भी उनके पीछे पीछे भागे और प्रणत होकर निवेदन किया, "भगवन्! हमारे अपराध क्षमा करें। हम पर कृपा कर प्रसन्न हों।"

राजपुरुष के शब्द सुनकर मुनि ठहर गये। उन्होंने घूमकर देखा——राजपुरुष हाथ जोड़े खड़े हैं, प्रदीप्त किन्तु शान्त मुखमण्डल; क्रोध, विक्षोभ या विषाद की एक रेखा भी मुख पर नहीं; निर्विकार शिशु की भाँति स्मित हास्य अधरों पर खेल रहा है।

यह देख तपस्वी ब्राह्मण का मस्तक श्रद्धा से नत हो उठा और उन्होंने कहा, "पुरुषोत्तम! तुम धन्य हो! मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था। इस परीक्षा में तुम पूर्णतः सफल रहे। क्रोध और ईर्ष्या तुम्हारे मन का स्पर्श तक न कर सके। जब तक सूर्य और चन्द्र इस पृथ्वी को प्रकाश देते रहेंगे, तुम्हारी कीर्ति भी अक्षुण्ण रहेगी।"

प्रज्ञादर्शन के प्रणेता, समता के मूर्तिमन्तस्वरूप, महाभारत के महानायक भगवान् श्रीकृष्ण ही इस कथा के नायक राजपुरुष हैं और वे तपस्वी ब्राह्मण हैं भारतीय पुराणों में प्रसिद्ध महर्षि दुर्वासा।

आग में तपाने पर ही सोना निखरता है। व्यक्ति के चरित्र का निखार भी तब होता है, जब उसे परीक्षा की तेज आग में तपाया जाता है। विश्व के इतिहास में जितने भी अवतारी महापुरुष हुए हैं, उन सभी को इस परीक्षा की अग्नि में तपना पड़ा है। परीक्षाग्नि के ताप से उनका

चरित्र शतसहस्रगुण प्रखर एवं प्रदीप्त हुआ है।

'समत्वं योग उच्यते' इस महामंत्र के उद्गाता योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की कठिन परीक्षा लेकर महर्षि दुर्वासा ने विश्व के सामने यह सिद्ध कर दिया है कि भगवान् कृष्ण उस दर्शन के जीवन्त विग्रह थे, जिसका प्रतिपादन उन्होंने गीता में किया है।

*

प्रश्न – मैंने आपका गीता-प्रवचन २१वाँ और २२वाँ पढ़ा। सुन्दर लगा। पर एक शंका मन में उठी। जब ब्रह्म सर्वव्यापी और एक है और वही एकमात्र सद्वस्तु है, तब यह जीव कहाँ से पैदा हो जाता है और नानात्व को जन्म कौन देता है ?

— शीला सुरेश, हाथरस

उत्तर – इसका उत्तर भी तो उन्हीं प्रवचनों में दे दिया गया है, पर सम्भव है कि बात स्पष्ट न हो पायी हो। यह सही है कि ब्रह्म सर्वव्यापी और एकमात्र सद्वस्तु है, पर जीवत्व और नानात्व का अनुभव भी सही है। पहला कथन सिद्धान्त की दृष्टि से है और

दूसरा व्यवहार की दृष्टि से। दोनों में विरोधाभास है। इसे भारत के दार्शनिकों ने पहचाना है और दोनों की ही उपयोगिता उन्होंने स्वीकार की है। प्रथम को वे 'पारमार्थिक सत्य' कहकर पुकारते हैं, जिसे हमने अपने गीता-प्रवचनों में 'नित्य सत्य' कहकर सम्बोधित किया, और दूसरे को वे 'व्यावहारिक सत्य' कहते हैं, जिसे हमनें 'अनित्य सत्य' का नाम दिया। सत्ता का एक तीसरा भी पहलू है, जिसे वेदान्त के आचार्यों ने 'प्रातिभासिक सत्य' के नाम से अभिहित किया है तथा जिसे हम 'असत्य' की संज्ञा दे सकते हैं। उदाहरणार्थ, रस्सी में सर्प का भ्रम। सर्प की सत्ता दिखायी तो देती है, पर वह असत्य है। इसको यों व्यक्त करते हैं कि सर्प की सत्ता प्रातिभासिक है। वेदान्त के आचार्यगण जीवत्व और नानात्व की सत्ता को प्रातिभासिक ही मानते हैं; पर साथ ही यह भी कहते हैं कि जब तक हमें जीवत्व और नानात्व की प्रातिभासिकता का 'बोध' नहीं होता, तब तक हमें उसकी व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। यदि पूछा जाय कि संसार, जो कि जीवत्व और नानात्व का ही दूसरा नाम है, प्रातिभासिक कैसे है, तो इसका उत्तर स्वप्न के दृष्टान्त द्वारा दिया जाता है। जैसे सपने में जाग्रत् का संसार नहीं रहता और जागने पर सपने का संसार विलीन हो जाता है, वैसे ही व्यावहारिक सत्ता भी पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा से सपने के समान है। जब हम पारमार्थिक सत्ता में जागते होते हैं, अर्थात् निर्विकल्प समाधि की अवस्था में चले जाते हैं, जिसे तुरीय या चतुर्थ अवस्था के नाम से भी पुकारा जाता है, तब यह व्यावहारिक सत्ता हमारे लिए स्वप्न के समान विलीन हो जाती है; और जब हम उस तुरीय या समाधि की अवस्था से पुनः इस संसार-भूमि पर वापस आते हैं, तो यही व्यावहारिक सत्ता हमें प्रातिभासिक भासने लगती है। जैसे, हम जादू देख रहे हैं। हमें जादू

के खेल अत्यन्त सत्य मालूम पड़ते हैं। पर यदि हम स्वयं उन जादू के खेलों को सीख लें, तो वे ही खेल हमें सत्य नहीं, प्रातिभासिक मालूम पड़ेंगे। जादूगर ने हवा से ढेर के ढेर तरह-तरह के फल निकालकर दे दिये। ये फल हमारे लिए सत्य हैं, पर जादूगर के लिए वे मात्र प्रातिभासिक हैं, और हम भी यदि जादू के उस खेल को सीखकर उसके रहस्य को जान लें, तो वे फल हमारे लिए भी प्रातिभासिक हो जायेंगे। इसी प्रकार, संसार अभी हमारे लिए पूर्ण सत्य है। पर जब हम साधना और भगवत्कृपा के संयोग से इस संसार के नानात्व का रहस्य जान लेंगे, तो यह हमें प्रातिभासिक ही बोध होगा।

हम तीन अवस्थाओं का अनुभव प्रतिदिन करते हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। इनमें से प्रत्येक अवस्था अन्य दोनों अवस्थाओं का बाध करती है। तात्पर्य यह कि जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति का, स्वप्न जाग्रत् और सुषुप्ति का तथा सुषुप्ति जाग्रत् और स्वप्न का बाध करती है। अतः ये तीनों अवस्थाएँ ही सापेक्ष हैं, और इसीलिए सत्य नहीं हैं। सत्य सदैव निरपेक्ष होता है। जो सत्य आपेक्षिक होता है, वह विज्ञान की दृष्टि में Absolute Truth (चरम सत्य) नहीं हो सकता। जब उक्त तीनों अवस्थाएँ सापेक्ष हैं, तो इससे यह अनुमानित होता है कि एक अवस्था ऐसी भी होगी, जो निरपेक्ष है। बिना निरपेक्ष के अस्तित्व के सापेक्ष की धारणा हो ही नहीं सकती। तो, जो अवस्था निरपेक्ष है और जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का आधार है, उसी को 'तुरीय' या 'चतुर्थ' के नाम से पुकारा गया है और उसी को 'ब्रह्म' या 'आत्मा' का भी नाम दिया गया है।

संसार की यह प्रातिभासिक सत्ता उस एकरस-अद्वयस्वरूप ब्रह्म की ही लीला है। जिस प्रकार असीम और अरूप सागर के वक्ष पर असंख्य रूपवान् और सीमित बुलबुले तैरते रहते हैं, वैसे

ही इस अद्वय-एकरसघन ब्रह्मसागर के वक्ष पर असंख्य रूपवाले छोटे-बड़े पदार्थ भासते रहते हैं। ऐसा क्यों होता है इसका कोई विचारात्मक उत्तर नहीं है। भावात्मक उत्तर यह है कि ब्रह्म की अनिर्वचनीय मायाशक्ति ही इस जीवत्व और नानात्व का हेतु है।

✱

विवेकानन्द जयन्ती समारोह–१९७५

प्रतिवर्ष की भाँति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में विश्ववन्द्य, प्रातःस्मरणीय स्वामी विवेकानन्दजी का ११३ वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम के प्रांगण में १८ जनवरी से लेकर १६ फरवरी तक निम्नांकित कार्यक्रम के अनुसार मनाया जा रहा है। कार्यक्रम सबके लिए खुला है, पर ८ वर्ष से छोटे बच्चों के लिए प्रवेश वर्जित है।

कार्यक्रम

★ शनिवार, १८ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"इस सदन की राय में छात्रों की दिशाहीनता के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का अभाव कहीं अधिक जिम्मेदार है।"

★ रविवार, १९ जनवरी .. प्रातःकाल ८ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

★ रविवार, १९ जनवरी .. सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"देश की ज्वलन्त समस्याओं के समाधान-कर्ता स्वामी विवेकानन्द ।"

★ सोमवार, २० जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"स्वामी विवेकानन्द का व्यावहारिक धर्म ।"

★ मंगलवार, २१ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"इस सदन की राय में गुजरात और बिहार जैसे आन्दोलन देश की समस्याओं के स्थायी हल नहीं हो सकते ।"

★ बुधवार, २२ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

★ गुरुवार, २३ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

माध्यमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(प्रथम दो श्रेष्ठ प्रतियोगियों को व्यक्तिगत पुरस्कार)

★ शुक्रवार, २४ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"इस सदन की राय में धन की अपक्षा विद्या बड़ी है ।"

★ शनिवार, २५ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"यदि स्वामी विवेकानन्द मेरे सहपाठी होते ।"

★ रविवार, २६ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्‌घाटन

विषय :–"विश्व को रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की देन।"

अध्यक्ष : श्री अतुलकृष्णजी गोस्वामी
सुप्रसिद्ध भागवती, वृन्दावन

अतिथि-वक्ता : (१) स्वामी अकामानन्दजी महाराज
सचिव, रामकृष्ण मिशन टी. बी. सेनाटोरियम, राँची

(२) स्वामी व्योमानन्दजी महाराज
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद

★ २७ जनवरी से २ फरवरी तक.. प्रतिदिन सायंकाल ६॥ बजे

श्रीमद्‌भागवत-रहस्य-चिन्तन

(भागवत-प्रवचन)

प्रवचनकार : श्री अतुलकृष्णजी गोस्वामी
(सुप्रसिद्ध भागवती, वृन्दावन)

स्वामी विवेकानन्द जन्म-तिथि उत्सव

★ रविवार, २ फरवरी ★

मंगल आरती, प्रार्थना, ध्यान .. प्रातः ५॥ से ६॥ बजे तक।
भजन, हवन, पूजा एवं आरती .. सुबह ९॥ से ११॥ बजे तक।
सान्ध्य आरती और प्रार्थना .. सायंकाल ६ बजे।

★ ३ फरवरी से १२ फरवरी तक.. प्रतिदिन सायंकाल ६॥ बजे

रामायण-प्रवचन

प्रवचनकार : पं० रामकिंकरजी महाराज
(भारत-प्रसिद्ध रामायणी)

★ १३ फरवरी से १६ फरवरी तक .. प्रतिदिन सायंकाल ६॥ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

विषय :–"अध्यात्म—सिद्धान्त और व्यवहार।"

प्रवचनकार : (१) कु० सरोज बाला
(२) बालयोगी विष्णु अरोड़ा
(विलक्षण प्रतिभासम्पन्न ११ वर्षीय बालक)
(१५ एवं १६ फरवरी को)
(३) श्री मोहनलाल पटेल
(प्रतिभासम्पन्न १७ वर्षीय बालक)
(१३ एवं १४ फरवरी को)
(४) स्वामी आत्मानन्द

•

अकाल सेवा कार्य

छत्तीसगढ़ का क्षेत्र 'धान का कटोरा' के नाम से प्रसिद्ध रहा है। महानदी, शिवनाथ, खारुन आदि छोटी-बड़ी नदियाँ और नाले इस धान के कटोरे को हमेशा भरा-पूरा रखते आये हैं। इन सबका जल धरती की कोख में अन्तःसलिला की तरह प्रवाहित होता और बीजों को अंकुरित करता आया है। पर इस साल ये नदियाँ सूख गयी हैं। सबसे चौड़े पाटवाली महानदी—चित्रोत्पला गंगा—के जल को अकाल-राक्षस ने पी लिया है और महानदी बन गयी है महा थार—महा मरुस्थल। जहाँ पहले जल की कल-कल ध्वनि सुनायी देती थी और चारों ओर जल ही जल दिखायी पड़ता था, वहाँ अब केवल रेत ही रेत फैली पड़ी है और रेतीली आँधी की सनसनाहट सुनायी पड़ती है। अधिकांश स्थानों में खेत के खेत जलाभाव से जल गये, और जहाँ यत्किंचित् सिचाई का प्रबन्ध भी हुआ, तो आवश्यक मात्रा में जल न मिलने के कारण खेत पयाल में बदल गये।

परिस्थिति की ऐसी भयंकरता को देख आपके इस रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी आत्मानन्द

ने अपने सहयोगियों के साथ अकालग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया और सेवा-कार्य की प्रयोजनीयता की दृष्टि से महासमुन्द तहसील में स्थित महानदी के तीर पर बसे घोड़ारी ग्राम को चुना, जो घोड़ारी घाट के नाम से परिचित है। यहाँ लोकनिर्माण विभाग की एक छोटी सी टपरिया है, जिसे आश्रम ने अपने सेवा-कार्यों का केन्द्र बनाया। आसपास के २०-२५ गाँव पिछले तीन वर्षों से लगातार सूखा के शिकार होते आ रहे हैं, और इस वर्ष की अनावृष्टि ने तो सबकी कमर तोड़ दी। रायपुर से लगभग ३० मील की दूरी पर स्थित इस घोड़ारी घाट में आश्रम ने ७ अक्तूबर, १९७४ को सेवा-केन्द्र खोल दिया और अगले ही दिन से अकाल-पीड़ितों के लिए सेवा-कार्यों का प्रारम्भ कर दिया। आश्रम ने अपने इन सेवा-कार्यों को तीन भागों में बाँटा---

१) निराश्रितों, अपाहिजों, दुर्बल-अशक्त व्यक्तियों और बच्चों को अन्न, वस्त्र, औषधि आदि देना,

(२) सशक्त किन्तु बेकार मजदूरों से काम लेकर उन्हें अनाज देना, और

(३) जिन गाँवों में सिंचाई की थोड़ी सुविधा की जा सकी है, वहाँ के किसानों को धान या गेहूँ की दूसरी फसल लेने के लिए बीज आदि देकर उनकी सहायता करना।

इस योजना के अनुसार ८ अक्तूबर से १२ नवम्बर तक प्रतिदिन निराश्रितों, अपाहिजों, अशक्त व्यक्तियों और बच्चों को राशन दिया गया। मजदूरों को काम देने के लिए घोड़ारी घाट से २॥ मील दूर मुढ़ेना नामक गांव में ११ एकड़ का एक सिंचाई का तालाब बनवाया जा रहा है, जिसके बन जाने पर ३०० एकड़ से भी अधिक भूमि को सिचाई की सुविधा प्राप्त हो सकेगी। फिर, घोड़ारी घाट से ५ मील दूर बड़गाँव नामक ग्राम में महा-नदी के जल को रबी फसल की सिचाई के लिए खेतों तक लानें हेतु

एक कच्चा बाँध बनाया गया है तथा ६ फुट गहरी, २ फुट चौड़ी, ४०० फुट लम्बी नाली खोदी गयी है। इससे बड़गाँव तथा सेवा-केन्द्र से ४ मील दूर काँपा ग्राम में सिंचाई की सुविधा हो जाने के कारण इन गाँवों के किसानों के बीच १६ क्विंटल गेहूँ के बीज वितरित किये गये हैं।

इस प्रकार, आश्रम के इस 'अकाल सेवा केन्द्र' ने पीड़ितों के बीच १८०२४ किलो अनाज, २३०८ किलो आलू-शकरकन्द आदि तथा २६७ नये-पुराने वस्त्र बाँटे हैं। इससे ५२ गाँवों के ९५८६ अशक्त और निराश्रित वयस्क, ४७८५ बच्चे तथा ३२५१ कार्यक्षम मजदूर लाभान्वित हुए हैं। १० दिसम्बर, १९७४ तक इस कार्य पर आश्रम का यह सेवा-केन्द्र ३५,०००) से भी अधिक राशि व्यय कर चुका है। इस सेवा-कार्य के जून १९७५ के अन्त तक चलने की सम्भावना है।

इस पृष्ठभूमि में आप सभी से हम भरपूर सहयोग की आकांक्षा करते हैं। अभी तक जो कुछ कार्य हुआ, वह जनता-जनार्दन के सहयोग से ही हुआ। आगे भी आपके ही सहयोग से हम इस सेवा-कार्य को चलाये रखने में समर्थ हो सकते हैं। अतएव आपसे हार्दिक अनुरोध है कि अधिक से अधिक रुपये संग्रहित कर इस संकट की घड़ी में कर्तव्य-पूर्ति के महान् दायित्व में हमारा हाथ बटायें। इसके साथ ही हम आपसे पुराने कपड़े और कम्बल आदि संग्रहित करने का भी आग्रहपूर्ण अनुरोध करेंगे, जिससे नारियाँ और बच्चे कम से कम अपना तन ढाँक सकें और शीत से अपनी रक्षा कर सकें।

धन (मनीआर्डर या चेक द्वारा), वस्त्र और अनाज **'सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)'** के पते पर भेजकर रसीद प्राप्त की जा सकती है।

इस 'अकाल सेवा कार्य' के १२ फोटो 'विवेक-ज्योति' में पाठकों की जानकारी हेतु छापे जा रहे हैं।

मैं ८ दिन से भूखा हूँ . . .

हम भी कम भूखे नहीं हैं . . .

मुढ़ेना में नया तालाब खोदने चले...

हम बूढ़े हैं तो क्या हुआ? काम करके खाएँगे...

हम बच्चे भी किसी से कम नहीं हैं...

(तालाब का निर्माणाधीन बांध पीछे दिखायी दे रहा है।)
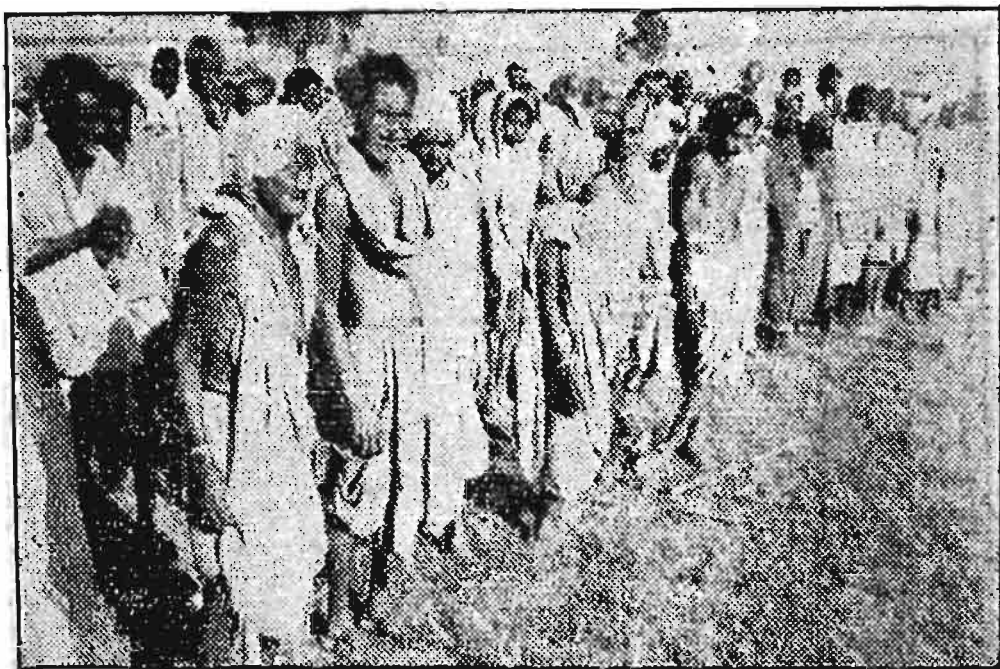
ऐसा अकाल नहीं देखा, बाबा...
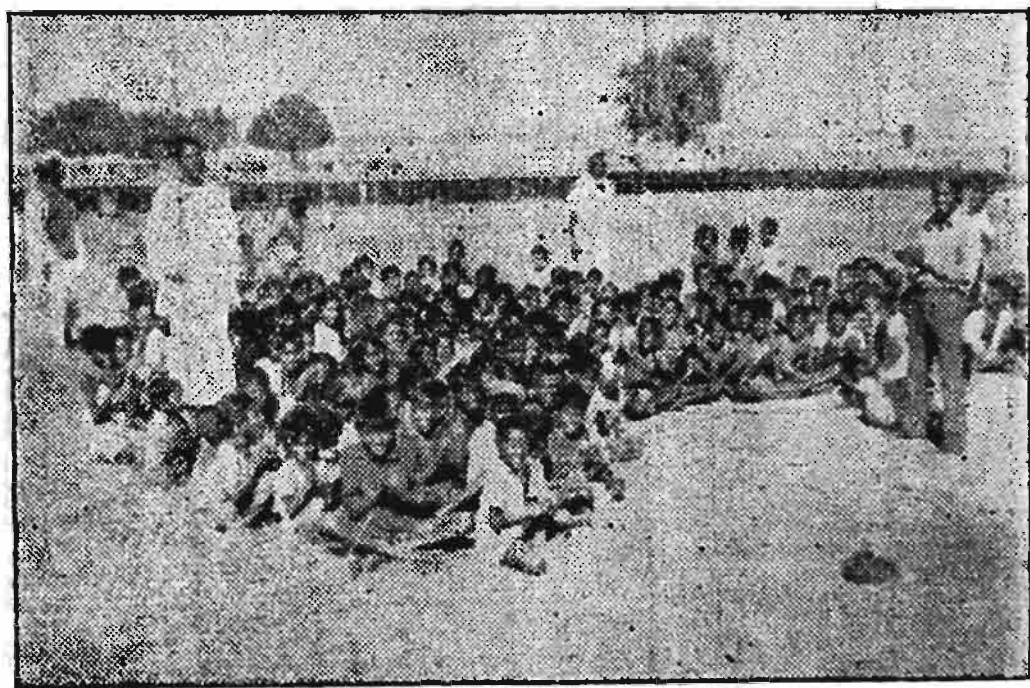
आप हमारे साथ रहिए, फिर हम सारा दुख बिसर जाएँगे...

महानदी की एक धारा पर बाँध बाँधकर उसे मोड़कर
५ मील दूर तक ले जाते हुए

बच्चों को दीपावली के लिए वस्त्र बाँटते हुए

Registered with the Registrar of Newspapers
for India under No. RN 7764/63.

श्रीरामकृष्ण उवाच

जो ब्रह्म है, वही काली – माँ आद्याशक्ति है। जब निष्क्रिय है, तो उसे ब्रह्म कहकर पुकारता हूँ। जब सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता है, तो उसे शक्ति कहता हूँ। ब्रह्म की उपमा स्थिर-शान्त जल से दी जा सकती है। जल हिलता-डुलता है, यह शक्ति या काली की उपमा है। काली वह है जो महाकाल (ब्रह्म) के साथ रमण करती है। काली है 'साकार आकार निराकार'। तुम्हारा यदि निराकार पर विश्वास है तो काली का चिन्तन उसी प्रकार करना। निष्ठापूर्वक चिन्तन करने से वही बता देगी कि वह कैसी है। तब तुम जान सकोगे कि वहमात्र है (अस्तिमात्र) इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं, बल्कि वह तुम्हारे पास आकर बातें करेगी – जैसे मैं तुम्हारे साथ कर रहा हूँ। विश्वास रखो, सब हो जायगा। और एक बात कह दूँ, यदि तुम्हारी आस्था निराकार पर है, तो उसी को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो; पर दुराग्रही मत होना। ईश्वर के सम्बन्ध में जोर देकर ऐसी बात नहीं कहना कि वे ऐसा ही हो सकते हैं और ऐसा नहीं हो सकते। कहो कि मेरा विश्वास है कि वे निराकार हैं, इसके अलावे वे और भी क्या क्या हैं यह तो वे ही जानें। मैं न जानता हूँ, न समझ सकता हूँ। क्या मनुष्य की एक छटाक बुद्धि से ईश्वर के स्वरूप को जाना जा सकता है? एक सेर के लोटे में क्या चार सेर दूध समा सकता है? यदि वे कृपा करके कभी दर्शन दें और समझा दें, तभी समझा जा सकता है, नहीं तो नहीं।

— १९ अक्तूबर, १८८४

COVER PRINTED AT :- SHIVRAJ LITHO NAGPUR